बहुभाषी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का सामयिक

अक्टूबर २०१५

# विशेषांक : पूर्वोत्तर का साहित्य

संपादन
कानजी पटेल

अतिथि संपादक
मेहुल देवकला

अक्षरांकन
संजय राठवा, भावसिंग राठवा

आवरणचित्र
अतुल डोडिया

आवरण संकल्पना एवं प्रस्तुति
हेतल श्रीमाली

**प्रकाशक**
भाषा रिसर्च एन्ड पब्लिकेशन सेन्टर
३७-श्रीनाथधाम सोसायटी
दिनेश मिल के पास, बडौदा-३९०००७
दूरभाष नं. : ०२६५ - २३३१९६८, २३५९०५९

---

‘लखारा’ बहुभाषी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का सामयिक है।

---



**संपादन संपर्क :**

संपादक, ‘लखारा’
३७-श्रीनाथधाम सोसायटी
दिनेश मिल के पास, वडोदरा-३९०००७
दूरभाष नं. : ०२६५ - २३३१९६८, २३५९०५९
मो. ९९२०१५५०७०

email : editor.lakhara@gmail.com

मूल्य : एक अंक : रु. १००/-

# अनुक्रम



## कविता
## *Poetry*

### पूर्वोत्तर North East



### गुजरात Gujarat

*भाषा : चौधरी*

## वार्ता-कथन
## *Tales*



## स्मरण
## *Remembrance*

# अतिथि संपादकीय

**मेहुल देवकला**

सुबह की हलकी धूप, सीना तानकर खडा कोराज का पहाड और उसकी तलहटी में स्थापित तेजगढ एकेडमी। बडौदा से हालोल होकर तेजगढ जाते हुए, राष्ट्रीय राजमार्ग से उतरकर जब पहाड और जंगल के बीच ले आती है सडक तब मानो एक नया परिवेश मन, मस्तिक को बांध सा लेता है। प्रकृति उसके बीच रहनेवाले लोग और अलग सी भाषा, एक एसा अजीब सा ठहराव है जो ठहर के सोचने के लिए विवश कर देता है।

बडौदा में 'भाषा' के मित्र बहुभाषीय साहित्यिक सामयिक का संपादन संभालने के लिए प्रस्ताव रखते हैं और मन मना नहीं कर पाता। दिनों के मंथन एवं कवि कानजी पटेल का जूझारू विश्वास ले आता हे, मुझे 'लखारा' के संपादकीय तक।

'लखारा' - परंपरागत पिठोरा चित्रकार है। जो सदीयों से, पीढी दर पीढी संजोते आए है अपने पूर्वज और उनकी संस्कृति को । चित्रकारी, नृत्य, संगीत, कथन, विधि ही उनकी भाषा है। अपनी भाषा एवं बोली में साहित्यिक प्रदान करने वाले छोटे-बडे सभी नामी-अनामी कवियों एवं लेखकों को प्रस्तुत करने वाले सामयिक का 'लखारा' से उपयुक्त नाम भला क्या हो सकता था? यहां हम कविता और साहित्य के जिन पहलुओं की बात करने की सोच रहे हैं, वे शायद आज के तत्कालिन एवं परंपरागत साहित्यिक मानदंड से हटकर बात करें, लेकिन चूंकी बात मिट्टी और प्रकृति से जुडे साहित्य की है, वह हमारे बीच की और जडों से जुडी हुइ ज्ञात होती है।

पहले जंगल और पहाड जैसे प्राकृतिक संसाधन, जो कि जीवन का मूळ आधार थे, वे छीन लिए गए। उस प्रक्रिया के चरम पर लोगों से उनकी भाषा तक छीन ली गई। वे अब न बोलते है न कोइ संवाद होता है। मानो सन्नाटे से भरी एक खाई ने बांट दिया है। इस सन्नाटे को तोडने का एक नम्र प्रयास है 'लखारा'। जब एक भाषा या बोली चली जाती है, तब न केवल भाषा किंतु उस भाषा में सदियों से, पीढी दर पीढी संजोया गया ज्ञान और इतिहास

भी चला जाता है। मानो एक पूरी संस्कृति चली जाती है।

पूर्वोत्तर के साहित्य पर केन्द्रित इस अंक में, लेखिका तेमस्युला आओ, अपनी रचना 'बुढा कहानीकार' में गर्व से कहती है कि कहानी कहना मेरी शानदार विरासत है। इस रचना के अंत मे आते आते वह अपनी विरासत को नई पीढी के हाथों से गिरते देख आहत नजर आती है। यद्यपि असम से मेरे हम उम्र युवा कवि अरूणी कश्यप नइ पीढी की अगुवाई करते हुए कहते हें, ''मेरे पास भी शब्द है, तुम्हे सुनाने के लिए भाषायें, साहित्य और कहानियाँ है। तुममें सुनने का उत्साह है? जरा सा भी!''

'अप्रसिध्ध जगह' नामक रचना में, अरुणाचल की प्रसिध्ध लेखिका ममांग दाय अपनी मिट्टी और लोगों की बात बडे ही चाव से बताती है। वहाँ मणिपुर के रोबीन नानगोम की जहां कहीं भी जाता हूँ, में कडवी समकालीन राजनैतिक वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में काम की तलाश में बाहर गए हुए अपने हमवतन भाई - बहनों का दर्द बयान करते हैं।

ये सभी कवितायें भारत के शहरों में लिखी जानेवाली समकालीन अंग्रेजी कविताओं से इन मायनो में भिन्न है कि इनमें जो भी काव्य सामग्री का प्रयोग हुआ है, वे मूलतः उसी भूमि और मिट्टी की बातें लाती है। अंग्रेजी केवल माध्यम मात्र है इन कविताओं के लिए । ये कविताएँ भिन्न हैं और इसलिए मन को भाती हैं।

पूर्वज एवं प्रकृति - आदिमता के दो मुलस्वर, इन सभी भाषाओं में लिखित साहित्य में पाए जाते हैं। गुजरात के मानसिंग चौधरी की रचनाएँ हलकअ...मन, मोवळो, आंबो और पीळी कोवली, प्रकृति के तत्वों का महिमागान करते हैं। ध्यान से पढने पर पूर्वोत्तर की और गुजरात के इस कवि की रचनाएं एकसूत्रमें बंधी सी लगती है।

अंग्रेजी में लिखी दो रचनाएं catch in the wind और being a woman मे एस्थर सियेम अपनी कल और अपनी आज के बीच की जदोजहद बयान करती है। वहीं मालिनी गौतम समकालीन महिला प्रधान कविताएं लेकर हमारे सामने आती हैं। सामयिक के अंतिम लेख में चिंतक गणेश देवी, कन्नड साहित्यकार यु.आर. अनंथमूर्ति के साहित्यक जीवन-कथन का रोचक ब्योरा देते हैं।

चित्रकार अतुल डोडीया का सविशेष आभार, जिन्होंने अपनी चित्रश्रेणी scribes from timbuktu में से black parchment नामक चित्र को इस विशषांक का आवरण चित्र

बनाने की अनुमति दी। अतुल समकालीन भारतीय चित्रकला के शीर्षस्थ नामों में से एक हैं।

हम वैश्विकरण के एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं, जहा हर चीज मे केन्द्रीकरण और सरलीकरण को बढावा दिया जा रहा है। हर कोई एक सी ही भाषा बोलता है। एक सा ही खाना खाता है और एक से ही कपडे पहनता है। विविधता जो हमारी सांझी विरासत है, वह मानों पीछे छूटती जा रही है।

पाठकों से निवेदन है कि अपने प्रतिभाव और रचनाएं भेजकर 'लखारा' से जुडे और बहुभाषीयता को बढावा दें।

# कविता



# *Poetry*

# अप्रसिद्ध जगह

ममांग डाय

हमारे वंश का इतिहास शुरु होता है कहानियों की जगह से।
हम नहीं जानते की जो भाषा हम बोलते हैं
उसका लिखित अतीत है या नहीं।
कुछ निश्चित नहीं है।

पर्वत है। ओह। पर्वत हैं।
हर ढ़लान पर हम चढे। नदी के किनारे सोएं।
पर विजय की बात हम अब तक नहीं करतें।

शिकारी को एक अप्रसिद्ध जगह बार बार तंग करती है।
शिकार हाथ नहीं आता।
कल के दिन औरतोंने अपना मूंह छिपा लीया था।
अपने बच्चों को उन्होने बोलना मना किया था।

मातृभाषा के गौरव के लिए, जिनका एसा कहना था,
हमारी पहाडीयों पर चढते हुए उन आदमीयों को
हमने कल आश्रय दिया था,
जानना क्या है जो जानते हैं,
और अब सोए हुए सभी घर, वो आदमी, सभी गाँव पत्थर बन चूके हैं।

अगर कोई मृत्यु नहीं होती तो खबर मौन होती है ।
अगर सिर्फ सन्नाटा हो तो, हमें परेशान करते हैं ।

सूनो, प्रार्थना का स्वर दबा दबा सा है,
अगर कोई अजनबी यहां होकर गुज़रे
तो उसे आसमान देखने दो ।
धुएँ का बादल चिंटीओं के पीछे भाग रहा है।
देखो! जंगली बिल्ली को उन्होंने  मार दिया है
और धनेश को मातृक नींद में दफन कर दिया है।

पीछे छोड आए हैं उससे भी गहरी धूंध में
ले चले हैं हमें अजनबीयों के शब्द
रोते हुए, लहराती हुई घाँसभूमि की तरह
जहां सौंदर्य के विचारों से धीरे हुए हमारे पितृ दफन है ।

पर्वत है । ओह । पर्वत है ।
हर ढ़लान पर हम चढ़ें । नदी के किनारे सोएं ।
पर विजय की बात हम अब तक नहीं करतें।

# मैं

**अरुणी कश्यप**

मेरे पास भी शब्द है
मैं उनको मीट्टी के सांचे में ढाल सकता हुँ
मेरे पास है भाषाएं, साहित्य, जंगल के गीत
वे सदीयों पुराने हैं
पीढी दर पीढी आए हुए भूचाल की तरह।
दादीयाँ सुनाती थी उन्हें,
मधु में डुबोये चांद के तले
आंगन मे सुपारी खाते हम जब,
बारीश की तरह वह मन भीगो देती थी,
और उससे ज़्यादा–
भीगे हुए जब समय में भीगते हैं
तो कहानियों के प्यासे नए को भीगोते हैं।
समय के साथ वह नीचे उतर आई हैं
ऋतुओं और धूंध की तरह, रहने हमारे साथ।
मेरे पास धून भी है,
पेड़ की छाल पर केंचुअे के खुन से लिखी किताबें
वह न्यारी हैं,
निर्दलीय, मेरे सीने में
दौड रही नदीयों जैसी,
दंतकथाओं से भरी,
शोकाकुल, तथापि प्रचंड ऊर्जा से उमडतीं

वसंत में गाते हुए पंछीयों की भाँति प्रेममग्न
गुमनाम, पहाडीयों के परे
जहाँ नदियां और बारीश जन्म लेते है
दंतकथाएँ, जीवनशक्ति बनकर बह चले है।
दादीयां, नदीयां, पहाडीयां,
हरे पेड़ों में छीपे गाते हुए पंछी वसंत के
और सतराह विजयों से परिभाषित
मेरा इतिहास अलग है।
उसी तरह जैसे मेरी रगोंमें खून की जगह
दौडती है चाई -पत्तियाँ।

पीछवाडे की कब्रों से बोलते नवज़ात शिशुओंकी,
कुत्ते में से मनुष्य, मनुष्य में से भेड बनने की,
और पीछवाडे के नींबू के पेडों, लौकीयों
एवं नरगीस के फूलों के बीच एक लडकी की कहानियाँ।
मुझे प्रतीक्षा है हार्दिक एक आगोरा की
मयूर-प्यासे मेरे गले की अभिलाषा
मेरी भूमि की सब नदीयां,
दंतकथाएं, थकी हुई बारीश
नही बुझा सकती मेरी प्यास, आस है तुम्हारे प्यार की, देखते नहीं?
मै भिन्न हुं।
मेरे पास भी शब्द है।
तुम्हें सुनाने के लिए भाषाएँ, साहित्य और कहानियां है
तुम्हें सुनने का उत्साह है? ज़रा सा भी!

# बुढ़ा कहानीकार

**तेमस्युला आओ**

ये मानते हुए मैंने जीवन बीताया
की कहानी कहना मेरी शानदार विरासत है।

मेरे दादा से विरासत में पायी कहानियाँ
मेरा प्रमुख खज़ाना था
और दुसरे संग्रहकारों से मीली कहानियों ने
मेरा कोष बढाया
मेरा वक्त आया तब मेने कहानियाँ कहीं

जैसे की वह मेरे खुन में दौड रही थी
क्योंकि हर कथन से मुझमें नया प्राणसंचार होता
और हर कहानी से
मेरी वंशीय स्मृति सुद्रढ बनती।

कहानियाँ में उस धाण की बात है।
जब छह पत्थरोंसे हमारा जन्म हुआ
जब हमारे पूर्वजोंने
हमारे प्राचीन गाँव बसाए
और प्राकृतिक तत्वों की आराधना की।

योद्धाओं और मनुष्य बनते शेर
कहानियों मे जीवित हो उठते
जैसे विविध पशु भी
जो कभी हमारे भाई थे
जिनको मानव भाषा की रचना करने के बाद
हम जंगली कहने लगे ।

दादा हमेशां आगाह किया करते थे
की कहानियाँ भूल जाने का परिणाम
विनाशकारी होगा
हमारा इतिहास
हमारा इलाका, और निरसंदेह रुप से
हमारी भीतरी पहेचान हम खो देंगे ।

इसलिए मेंने अपनी वंशीय जिम्मेदारी मान कर कहानियाँ कही,
अस्तित्वपरक इतिहास और आवश्यक परंपरा को बनाए रखने की कला
नवयुवकों को सिखाने के लिए
ताकी वह आनेवाली पीढ़ीको बता सकें।

पर अब नया ज़माना आया है।
घातक रूप से पुराने को विस्थापित करके।
मेरे ही पोते
हमारी कहानियों को बकवास मानते है,
अंधकार युग की, वर्तमान काल में अप्रस्तुत,

वे पूछते हैं
किसे चाहिए असंबद्ध कहानीयां
जब की किताबों से काम अच्छा चल रहा है?

मेरे अपनों के बहिष्करण ने
बहाव रोक दिया है
और वो मन जो कभी कहानियों से जोशपूर्ण था
अब अकल्पनीय सन्नाटे में डूबे हुए
उसके दुर्गम अंतरालों में
कहानियाँ जैसे खो चली है ।

जब स्मृति नाकाम बन जाती हैं
और शब्द लड़खड़ाने लगते हैं
उस प्रारंभिक कुत्ते की तस्करी अंतडियों को
झटके से खींच निकालने की पाशविक इच्छा
मुझ पर हावी हो जाती है
और सभी कहानियाँ उसकी अंतडियों
में पडी लिपि के हवाले कर देना चाहती हुँ ।

# नाम की कथा का पुनः कथन

**एस्थर सियेम**

मेरे बारे में वे जो कथाए बताते है,
आशाकारी दासतां, शादी के स्वीकार
की निरर्थकताएं,
मै उन सभी का अस्वीकार करती हुं,
मै उन सभी का अस्वीकार करती हुं।

अगर सब ठीक चले
और मेरी दरख्त –बहनों की डालीयों के ज़रीये
आसमान तक पहुंच जाऊँ
तो क्या मैं कह सकती हुं की मेरी जीत हुई है?

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

बिल्ली सी तेज़ रफतार और
जिसे मैं उस वक्त अपना मान बैठी थी
एसे एक कसैले लालची शेर के हवाले
मेरी ही माँ ने मुझे कर दिया था
उस बात की हाल ही की खोज़
के सदमे से उमड़ती स्मृतियाँ मेरा पीछा कर रही है।

सान को कोन्ग री पाट का कोन्ग आ

क्या मैं उनसे
या अपने आप से भाग रही हुं?
मेढ़क की घीनोनी खाल में भेष बदलके
मेरी पहेचानः मुझसे भी छीपी हुई
मेरी माँ : मूषक या मानव ?

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

मूषक, जिसे में अब माँ कहती हुं
तुमने मुझे शत्रुओं से बचाया
शेर-पिता जिसने मेरा भाग्य लिखा
और मानव माता
जिसने मुझे निलाम किया
और उसी की बनाई हुई बेड़ीयो में बांध दिया,

सान को कोन्ग री पाट को कोन्ग आ

क्यां मैं अपने ही बल आगे बढ रही हुं,
या मेरे भविष्य में लिखा है
उससे ज्यादा पाने के लिए आसमान में
मुझे लीये जा रहा है?

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

अनवरत तेज़ी से बढते ऊर्ध्वमुखी पैड़ों
पर मैं चढती हुं
अज्ञानता से अनुभव तक
सादगी से संकुलता तक
ऊपर की तरफ लीये जा रही हुं
माता मूषक तुम से दुर
वायु का झोंका मुझे ले जा रहा है ।
क्या मुझे अपनी और ही मुड़ना होगा,
(मुझ पर तुम्हारी छाप)
जो मैने धरती पर स्थिर खड़ी तुम
और आसमान की ओर बढती अकेली मैं
के बीच मैने रखे हुए कम समय में ?

सान का कोन्ग री पाट को कोन्ग आ

मेरी चारों और चक्कर लगाती
संलेपन करती खामोशी के बीच
मैं आधे तक ऊपर पहुंच चुकी हुं ।
कभी जानती थी उस शेर-जंगल की खामोशी नही हैं यह
मेरी अज्ञानता में मुझे ताना मारती हुई
बोलते आवाज़ो की जब उत्कंठा थी मुझे,
एक अनछुई दुनिया की खामोशी है यह
जो न देती है न लेती है

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

जो मेरा प्रतिरोध करती है
पर मुझे उसकी तरफ विवश करती है
क्या समान या असमान को मिल पाऊंगी मै?
इस असमान दौर मैं
मन मेरा, खाली, हदय मेरा, अस्थिर।

सान को कोन्ग री पाट को कोंग आ

आज ही सुबह में एक भंगुर समय में
जाने पहेचाने भेष मे, जाने पहेचाने समायोजनमें
जानी पहेचानी दुनिया में
एक शेर-पिता के साथ संबंध से
में जानी जाती हुं यह सोचती थी मै।

सान को कोन्ग आ फाट को को कोंग री

स्मृतियां मेरी, गहरा घाँव देने खपरे
हमेशां मेरे अपने बल पर ही
हमेंशा अकेली।

सान को कोन्ग री पाट के कोन्ग आ
सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

जब में आसमान में पहुचुंगी
कौन जाने
क्या होगा ?

सान को कोन्ग री पाट को कोन्ग आ

**२.**

जिन सम्मोहक मंत्रो ने मेरी भगिनी –सहायकों को बाहर निकाला था
आसमान को छु सके तब तक
बिना रुके बढने के लिए,
वह अब उन्हें मोहित नहीं करते,
दरखत–बहने, तुमने मुझे सुरक्षित ईस पार पहुंचाया है
अब में अपने बल पर प्रहार करती हुं
शब्द को जीवन से, जीवन को शब्द से छोपाछाप करने
मेरे सुनते कानों के लिए प्रतीतिजनक कहानी की रचना करने ।

कुछ लोग ही समझ पाए
एसे अकेलेपन की अंटीयों में,
जो कभी आदत से
या दुसरों की उम्मीद से पेश नहीं हुएं
वह ज़िन्दगीयां के अकेलेपन में दोहराई गई,
जो जानती हुं सिर्फ वही कहुंगी एसे शब्द में
मेरे बारे में कहे गए शब्द को
रुपांतरित कर दे एसे शब्द में ।
इसलिए
मेरे जीवन के प्रतिलेखन में

दिव्य माता के पुत्र के साथ विवाह करना मंज़ुर नही है मुझे
दबे हुए भविष्य का इनकार करती हुं ।

अनागत चुनौतीयों के मुकाबले में
मैं अपने आप को
ज़्यादा अकेला
ज़्यादा असुरक्षित पाती हुं

में अपनी बहनों को, मेरी सहायकों को
आहवान देती हुं,
पर वह अब नहीं सुन पाती है मुझे,
वह नहीं आती हैं

यह अनुपम विवाहार्थी
जिस स्वर्ग का वचन देता है,

वो ना कभी बना मेरा,
वो ना कभी बनेगा मेरा ।

को कोन्ग आ को कोन्ग री

# जहां कहीं भी जाता हुँ

**रोबीन नानगोम**

जहां कहीं भी जाता हुँ
मातृभूमि को साथ लिए घुमता हुँ ।
खोजता हुँ उसे राजधानी की सड़कों पर होते विरोध मार्च में,
सौंदर्य स्पर्धाओ में काले केष धारण किए हुए,
अब खिड़कीयों के पीछे प्रतीक्षा करती हुई लड़कीयों में।
सोचता हुं उन नौजवानों की बदनसीबी के बारे में
जो शहर के घटिया रेस्टोरन्टोंमें काम कर लेंगे
मगर वापस नहीं लौटेंगे
क्योंकि उनके वतनमें शेतानों और चोरों का राज है।

संघर्ष समाधान परिसंवादो में
प्राध्यापकों एवं सेना के निवृत जनरलों के
मेरे लोग और उनके दुर्भाग्य के विश्लेषण के दौरान
कई बार मैं उसके भविष्य के बारेमें सुनता हुं ।
किन्तु ग्रामीण संध्या के वक्त औरतें और पानी के साथ
मैं उन्हें लौटता देखता हुं ।
कहना है मुझे अपने कवि मित्रों से
उन बारह माताओं के बारे में
जिन्होंने निर्वस्त्र होकर खुद पर
सिपाहीओं को बलात्कार करने को कहा था।
दरअसल, उसके छोटे से विश्व में
काल्पनिक सफर पर जाता हुं

और कत्ल की गई आठ साल की बच्ची के लिए
इन्साफ की धूंध हटने की राह देखता हुं ।

उसकी स्थल रुद्र दयनीयता,
उसका बेजोड वैभव जाने बिना ही
विकासकी भाषा बोलनेवाले
मेरी मातृभूमि को फकीर राज्य कहते है।
और कोई नहीं जानता उसके शव कौन उठाता है।

जानता हुं मुझे संताप नहीं करना चाहिए
(शायद मैं ही अकेला अपनी भूमि की चिंता करता हुं)
लोग भले कहे
की नयी शुरुआत के लिए
कष्ट की नयी ऊचांईयो पर जाना होगा,
पर जब भी में अपनी भूमि की सडको को छुता हुं
सभी खुश नज़र आते है, बिना किसी शिकवा के ।
मुझे संताप बंध करना होगा
या जीतना हो सके उतना संचित करना होगा
जैसे मेरे खुन में नाच रही है
मेरी भूमि की धूने वैसे ।

**ईस विभाग में प्रकाशित पूर्वोत्तर की कविताओं का स्त्रोत :**

तिलोत्तमा मिश्रा संपादित ध ऑकस्फर्ड अेन्थोलोजी ऑफ राईटींग्स फ्रोम ध नोर्थइस्टः पोयेट्री अेन्ड एसेज/ नई दिल्ली : ऑफसपर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, २०११

**(मूल अंग्रेजी का हिन्दी अनुवाद : रुपाली बर्क)**

## My barefoot Muse

**Esther Syiem**

**1**

When she
called to me
once,
I'd wait
twice, thrice
for her to call again
lest, as our elders said,
it be some hoary demon
come to whisk  me away.

I was cautious then
to count and count
as those elders instructed.

But the more I counted
the more she stalled,
so I fell in step with her
the moment she called me once;

much like those times when

I’d try to match up
to the barefoot strides
of my countrymen
off to trade
their wares
in those other weekly markets,
make-shift and on the move.

**2**

Will you still walk
the seasons
with me
all the way
to where the wind flies
further even
than where the arrow is shot?

Will you still swell our furrows
with the milk
that will harden
with the ripening?

You went in with him,
the naked *lymboit lymbiang*,
into *ka krem lamet latang*

to fetch the insulted sun
and flood with life
our world once again.

Will you still
skim the swimming shallows
with the *shalynnai* and *dohthli*
and the *shymprong* in the *japung*?

You fire up
the *khanatang*
that tilts those
other worlds
back into our lives.

Are you still wont
to call
even now,
for I know
you pace
the submerged byways
of my inner world
never waiting for me
however –

one pace ahead
as you've chosen
to always be –

to whisk me off
as you've always done
at no count at all?

***Meanings :***

***u lymboit lymbiang*** the rooster who was sent to fetch the sun from the mythical
***krem lamet latang*** the mythical cave in Khasi folk lore
*s**halynnai, dohthli, shymprong*** small fish found in the shallows
*japung* reeds
***khanatang*** sanctified tales

## The Catch in the Wind: About Grandmothers

**Esther Syiem**

**1**

It's the catch in the wind
that catches me son,
that carries the tone of mother's voice
that tells me again
of her own grandmother

how she crept out of bed
after weeks of regurgitating fever
that suddenly stopped
one morning
so she could seek
the company
of her plants
once again.

were you lonely
little ones,
were you angry
with this old, wizened woman
who left you far too long;

what must you think of me,
that I'd left you
abandoned and neglected
to the wind and the rain?
she'd say,

brushing aside a straggling strand of grey,
tenderly tucking in a wandering vine
back into its place within the frame,
tending to the wilting herb
that had waited and waited
far too long,
scolding the sickness that kept her away,
as mother followed close on her heels
as always,
like the puppy that she still was
lapping up indiscriminate delights
and the whiff of endless scentings.

**2**

Beaten by the elements,
mother's ancient grandmother –
whose milch cows yielded her
all the surplus she would ever need,
whose orchard was her soul

who refused to partake
of any meat whatsoever
abstaining from habits
ingrained from the past,
like smoking meat-dripping-fat
over hearth-ful
of smouldering fire –

was always mindful of the sentiments
of her milch cows and the bull
(at all times is the need for a good bull, she’d say)
always stamping and snorting
his opinions to her;

**3**

It’s the catch in the wind
that catches me son;
that tells me to tell you
how mother’s grandmother
kept house for all
notwithstanding - - -

## *Crossroads*

**Mamang Dai**

The north wind brings sand, the yellow dust of grief. The west,
ice and cold night. From the south the cry of doves, cinnamon.
The east—gold.

In the street of word makers we forged words for so many
reasons...for loving, and not loving.

Change is survival. Today the mustard blooms. In spring it will
be peach. Some words I kept locked in my heart. One day, from
a distance, we would see how there is a reason for everything.

And yet, if as in my dreams I escape through a hidden door and
friends gather up my bags, I will still remember an old love lost in
the streets, waiting, or searching.

***A remembered place***

This is the remembered place—
the slope of your hand

deep inside the afternoon.

How did we reach here?
There are no shadows on the wall.
Beneath the weight of your wrist
a time knot is unravelling-
Memory, memory:
Time sleeping in our eyes,
all the rest, freed by love.

### *Stay with the song*

The afternoon belongs to the dove
weeping for her fall from heaven.
The feast of life is laid before our eyes
but the ticking moment
discloses nothing about time,
its footsteps, and their meaning.

Evening –
the sun goes away
carrying its quiver of arrows.

Every word we utter now is a memory
until the sun returns.

Stay with the song.
At night—
Don't lose the chord
that binds all things together.

Rain blows down from the hills
pushed by grey clouds,
and a white, ordinary moon
suddenly draws our gaze upwards.

Daybreak—
It is time to leave.

Not all the things we know will heal us.
Not all the things we fear will kill us.

## *Floating island*

The sloping mountain is trying to reach me,
stretching down into the water.

Dear one, don’t go away,
rest, rest on my shoulder.

Deep in my centre a woman is asleep,
pressing her cheek on my pillow
vivid with dreams.
The birds of summer are nesting in her breast.
Who knows which way the spinning current will spin.

Farewell, blind mountain, pasted on the sky.
When the day is folded away
my heart clings to the life of water...
Into the deep, into the sea green
navigating on a heartbeat
the lilies are shooting up like swordfish,
and the woman is laughing, laughing.

## गुजरात

भाषा : चौधरी

**मानसिंग चौधरी**

# हल्कअ..मन

काले...काले..वाडले दरियामांतअ.....पाणी नेइने आवते मंजडे हा...
अेटले मन पतंगिया जेवअ...हल्कअ.....होय गअ.....हा...
कतरा दिहीथी उबडा खेताहामां जाता रअया हा...
खेताहामां छायणा.....खातार पडीने वरहाताणे वाट हेदत....हा...
वावणी कअदना दाणा वरहाताणे वाट हेदीने थाकी गया
किडे-मंकळे दाणा खोतरीने खाय जाते हा....
फहण आजे वायारो पेरवातो लागो हा....
ने...
काले...काले...वाडले दरियामांथअ....पाणी नेइने आवते मंजडे हा....
अेटले मन वायरा जेवअ....हल्कअ बनीने जिंदगीणे खुशी वेरतअ...मंजडे...
काले...वाडले...वरीही गये अेटले थ्हरती खुश खुश होय गोय
पेल्ले छांटे थ्हरतीमांथी...सुगांद आवणे लागी
फूबी लाललाल हिंदूर जेवी बनीने खेताहामां फीरती लागी
लाल फूबीणे तलाकामां नेइने आंगली फेरीवता
माखाण जेवी..पोची पोची नागे ने आंगलाहामां गीगलावे
वरहात पडता ज नांदरवअ उंगता ज थ्हरती लीली हाडी पेंरी नेय
पेल्ला वरहाते मोर लांबे पीछे फेलावीने नाचणे लागे

ने....टेहुंक टेहुंक करीने वरहाताणे स्वागत करे
आख्खी रात ड्राउं ड्राउं करीने देडका वरहाताणे गीत गाया करात
वरहात पडता ज जुवार-दाणाहाय चाहा लाइनमां उंगी नीहीरात
ने वायरा हारी जुवारीणा पातरा हानात ने आनांद देखाडात
ने मा...रे....मन वायरा जेवअ...हल्कअ...बनीने उडाणे मंजडअ
आजे वरहात आवता ज
मा...रे...मन पतंगिया जेवअ...हल्कअ बनी गअ....
वरीही गोना वाडला...जेवअ....मारे मन हल्कंअ...होय गअ.....

## मोवळो

बाप दादाणे समायथी मोवळो हाजराहजूर सेवा करतो
नीचकाहाय रमातणे मेदान ने मोटाहाय आरामणे जागा
मागसार पोहो मइनामां हींहीं वेठीने उबो मोवळो
फागण चैतारमां ताजे ने रसदार मोती जेवे मोवळे आपे
तप करता ऋषिणे का...आणी मोवळाणे ताप ठंडी वरहात नी नागे
ऋषिणे वाणीमांथी वेदो नीहीरीना तेंहे मोवळाहामांथी रस नीहीरे
झुम्मार जेवे लटीकते कलाहामांथी टपटप करते मोवळे पडात
आख्खा मोवळा हेठे आदियरअ जेंहे मोवळे पाथराय जात
डोशीमां छिन्न नेइने कुबेर फंडारमांथे जेहे मोवळे विसे ने खलामां नेजायने उखवे...
वैशाख मइनामां मोवळे पूरे होता मोवळो हक्को बने
जूने पातरे गुरवीने आख्खा वराहाणे फार ओणे करे
ने धीरे धीरे नवे पातरे रतुबडे-लाल बनीने आवात
नवा पातराहामां ललो रंग गाढ बनीने चढे
अेटले मोवळो अल्लड नीचकी जेवो लीलो लीलो नागे

ने लूमेलूम मोवळाणे डोडा आख्खे मोवळे आवात
मोवळाणे डोडा पाकात अेटले बोकळाणे आंचळ जेंहे देखात
मोवळाणे डोडा पाकात अेटले चीकुणे याद आपावात
डोडाहामांथे.....मडगीले काढीने डोशीमां खलामां उखवी आवे
गडो आथोहो मडगीलाहामांथ मडगील...तेन काढावणे हेराहामां जाय
गराम गराम कोदरी ने मधमधत...मडगील...तेन, हवाद याद आवे
उंडालाणे रजामां बधे नीचके मोवळा तले मिलात
फहण तीळकामां मोटाहांय मांचे मोवळा तले मिलात
लीलाछम मोवळा हेटे नीचकाहाय रमात बराबर जामे
गिकला करीने आमनाणे किल्ला रमवाणा ने
लखीटा ने फमरा सूम सूम फेरीवाणा ने
दूनु ननन..... करती गिल्ली जाय ने दंडाथी मापवाण.....
जिं निहालीमां हिखवाण....नी मीले तीं मोवळा तले मीले
मोवळो मास्तार जेवो, वडील जेवो ने दोस्तार जेवो वेवार करे
वरसोथी तिळकामां, हींहामां, वरहातामां उबो रइने सेवा करतो मोवळो..

## ख्होडो

ख्होडो अेंहे कअजे अेटले तुमाहांय चिंहीहीही करतो ख्होडो ज याद ओ
हांय जीवता ख्होडाणे वात कायनी करतो
कुंबाडाहाय तिंये कादवामांथी बनावीना उजला ख्होडाणे वात करतो हाम
कुंबाडे कादवामांथी बनावीना ख्होडामां छत नी होय
कुंबाडाहाय तिनथो ख्होडो नावीने पूंठी बाधा राखवामां आवे
बाधा राखशा पूंठी ख्होडो छतवालो बनी जाय
जीवता ख्होडा करता कादवाणे ख्होडो वदारे ताकातवालो बनी जाय

बाधा राखीने ख्होडो खेतामां टांगी देवामां आवे
उजलो ख्होडो खेतामाणा पाकणे राखवाली करे
वेंगणे, टामेटे का...मीच्चाहाय वाडीमां ख्होडो टांगवामां आवे
अेटले वेंगणे, टामेटे, मीच्चा कोइ नी छूटे
हेंगळाहाय खेतामां ख्होडो टांगीनो हुय अेटले हेंगळे कोइनी ऊखडे
तुवराहाय खेतामां ख्होडो हुय अेटले कोइ तुवरे नी छूटे
खेतावालाणे पूच्छा वगारा कोइ चोरी करे अेटले ख्होडो नडे
खेतामां चोर जाय अेटले नाग देखा पडे, फूत देखाय
चोर चोरी करे अेटले झाडा-उल्टी होय जाय
गामडाहामां-खेताहामां उजलो ख्होडो देखीने कोइ चोरी नी करे
जीवता ख्होडा करता कादवाणे उजलो ख्होडो वदारे छतवालो.

## पीली कोवली

वरहात पडता पेल्ला ज डोडा, तवेहे, चीभडे वाडामां ओहाइ जात
ने चमले-मरचीले ओरीने वाडो तियार करी देवामां आवतो
ख्हरा पाछाल फीतडा मेरे पीली कोवली, डोवळी ने भूरा कोवलाणे बीवडे ठाणात
वरहात पडता ज आख्खो वाडो जीवतो होय जाय
डोडा ने भेंडाहा हारी चीभडाणे, तवाहाणे वेना खुमारीथी चढी जात
मोटा कोवलाणे वेना जमीन पांही पाथराइने आखा वाडाणे ठाकी देत
आख्खो वाडो लीलोछम बनी वायरामां लेहराया करे
पाछाल ठाणीनी पीली कोवली वेनाइने टटार बने अेटले
पीली कोवलीणा वेनाणे झडे मूकीने ख्हरा उपार चडावाणो
देखदेखतामां वेनो लांबातो जाय नेखोबो जवळे पातरे नीहीरते जात

सूंजडीफराहाणे का...णी वेनो सूंढ काढतो जाय ने झडेहे वीलगीतो जाय
लीलाठण वेनाहा उपार हलदिरे फूने बेंही जात
बीजे-त्रीजे दिही आपळाहाय खबार सुद्धा नी पडे तेंहे
हलदिरा फूना पाछाल पीली कोवलिणे आरेअे आवी जात
नान्ह आरअ धी..र...धीर...मोटअ होत...जाय ने पीली कोवली बनी जाय.
आख्खा ख्हरा पांही पीली कोवली ने पीळी कोवली ज होय जात
चदराहामां पीली कोवलीणे देवाहाय कोवली बी कवामां आवती
चदरे देवे करने जात तियां पीली कोवली नेइ जावामां आवती
पीली कोवली पाकी जाय अेटले छूटीने ख्हरमां मूकी देवामां आवती
पीली कोवली अेटले पीली कोवली, वरहात पडता ज ख्हरा पांही चढी जाय

## आंबो

चमचमती ठंडी पडे ने आंबा पांही मोरवे आवात
जेहे कडकडती ठंडी पडे तेंहे आंबे मोरवे वदारे आवात
आंबे मांजार फूटे अेटले आंबो होळी ऊठे
लाल...फूखरे...जांबली रंगणे मोरवाहाथी आंबो रंगीन बनी जाय
रंगबेरंगी मांजारथी आंबो रंगीन बनी डोह्ला करे
धूमरअ वरीही जाय तिया मोरवे गुरीइ ...जात
ने...आंबा पांही आंबे ओछे....आवात
आंबो ते...दीहामां ज वदारे फळे-फूले
आंबे बेठने मोरवे नान्ना नान्ना आंबाहाय वाट देहात
फरपुर हियाळो बेहेता ज आंबा उपार आंबे आवी जात
मोरवे आंबाहामां कियार फेरवाइ जात तीं बी नी हुजे

फाया, कुदरातणे आपळे कियार हमजी अखुंहुं
नान्ने आंबे मोटे होय नेआंबा पांही हींचको बांदात
माणाहा फागो जीवनरस नेइने आंबे हींचकाया करात
ख्हरमां रमती नान्नी नीचकी कियार बाहाल होय जाय
तीं आहीय --आथाहाणे कां...खबार पडती हासे
ने...देखदेखतामां संसारसागारमां तरती छोडी देवी पडे
रातीणे आंबा उपार आकसे ख्हाणे वागले आवात
तीया ज खबार पडे का...आंबा उपार आकसे होय गये हा.
आंबो बेळीने दामाण नांखवामां आवे अेटले
आठवायडामां दामाण गुंदाय उठे
ने...अमृत जेवो रह खावाणो मीले
फाय, आंबो अेटले आंबो
पथरो ठोकअे तहुं आंबे आपे
माणाहा जेवो नक्कामां कायनी हासे
माणह जीवतेजीव बी नी काममां आवे
ने मरी जाय तिया खोट्टे नाकळे बालावे
आंबो तेअे जीवजेजीव आंबे आपे
ने उखाइ जाय पूंठी नाकळे आपे
आंबो तेअे सज्जन माणाहा जेवो गणाय
आंबो पोते वेठे ने बीजाणे सुख आपे

# बचपन

मालिनी गौत्तम

वह गंदी-मलिन
अपने शरीर पर लिये धूल की चादर
पहिने फटा-पुराना
ढ़ेरों दाग-धब्बों वाला
मटमैला सा फ्रॉक
कंधे पर लटकाए
प्लास्टिक की एक बड़ी सी थैली
बीनती रहती है
गलियों में,
कचरे के ढेर में,
खाली प्लॉट में,
दूध की थैलियाँ,
प्लास्टिक के टुकड़े,
रबर की पाइप,
टूटे हुए नलके,
एल्युमिनियम के ठीकरे,
लोहे के सरिये....
और भी न जाने क्या-क्या
जब -जब देखती हैं
अपनी उम्र के बच्चों को

रंगबिरंगे बस्ते, नाश्ते के डिब्बे
और पानी की बोटलों से लैस
स्कूल जाते हुए,
दौड़ पड़ती है
कबाड़ी के यहाँ
अपना कबाड़ बेचने के लिये
जब उसके हाथों में आते हैं
खनकते सिक्के
तो खनक उठती है हँसी
उसके होठों पर
क्योंकि इन्ही पैसों से तो
भरनी है उसे
अपने छोटे भाई-बहिन की स्कूल फीस
खुद को खत्म करके भी
वह बचाना चाहती हैं
उनका बचपन

## काव्य-कोकिला

मैं हूँ औरत,
सर से पाँव तक औरत,
पालने में ही घिस-घिस कर
पिला दी जाती है मुझे घुट्टी
मेरे औरत होने की,

उसी पल से मुझे
कर दिया जाता है विभक्त
अलग -अलग भूमिकाओं में,
बना दिया जाता है मुझे
नाजुक, कोमल, लचीली
ताकि मैं जिंदगी भर
उगती रहूँ
उधार के आँगन में,
पनपती रहूँ
अमर बेल बनकर
किसी न किसी तने का सहारा लिये,
कुछ भी तो नहीं होता मेरा अपना
न जड़ें...न आँगन...और न आसमान....
मुझे भी बनना है
टट्टार तने वाला वृक्ष
जिसकी कोटरों में
पंछी करते हों किल्लोल,
मेरी शाखाओं, पत्तियों और कोंपलों को
आकाश में फैलाकर
मैं घूँट-घूँट पीना चाहती हूँ
उजाले को,
आसमान से बरसते प्रकाश में
एकाकार होकर
लद जाना चाहती हूँ फूलों से,

सुरीली आवाज में
गाना चाहती हूँ गीत
मेरी आजादी के,
जमीन के साथ-साथ
आसमान में भी
पसारना चाहती हूँ मेरी जड़े...
लेकिन.....मेरी फैलती हुई जड़ें
शायद हिला देती हैं
उनके सिंहासनों को.......,
मेरे आजादी के गीत
शायद उँडेलते हैं
गमर-गरम सीसा
उनके कानों में....
तभी तो घोंट दी जाती हैं
मेरी आवाज...
................
सदियों पहले भी,
एक थेरियस ने किया था
बलात्कार फिलोमेला का
काट डाली थी उसकी जबान,
अपने देवत्व के बलबूते पर
बना दिया था उसे 'काव्य-कोकिला'
बिना जीभ की 'काव्य-कोकिला'

सिलसिला आज भी जारी हैं
आज भी मैं हूँ
जीभ बिना की कोकिला
ताकि यूँ ही सदियों तक गाती रहूँ
और कोई न कर सके अर्थघटन
मेरे काव्य का....

# वार्ता-कथन



# *Tales*

भाषा : पंचमहाली भीली

# धुळी गइ धुळा जोडे

**सुरमल वहोनिया**

धुळी गइ धुळा जोडे, टाडु पडतुं आयुं ने लुक भुलवा मांडयुं, वखत जातां गामना पंचातिया भेगा थाया, धुळी भले गइ, गामना रिवाड ना तूटे, दापु आलवुं ने लेवुं पडे इ परसनो कायदो छे, घेर घेर निया ना साले, कही धुळीना भाईने अगेळ कर्यो ने ग्या दापुं लेवा, धुळाना घेरना आंगणामां जमडानी जेम ढगली थाइ ग्या.

धुळो धुळी अेमनी मस्तीमां, घरनो हमदा लेवा हाटमां ग्यांने पासां आवी हकेले तां सडाक देती लाकडी टाटला पर पाडी ने डगुंमगुं थाइग्युं. धुळीनो भाई हेंजो, एक मांने पेटे जण्यां पुण बाप नाळा, धुळीना बापे उछेर्यो पण अेमना काबुमां ना रह्यो, धुळीने तुं तारी करेने दोडावे अेटले धुळी अेनाथी बे हाथ दूर. आना घरनो धणी कइ ग्यो, दापुं आलदे, कही आंगणामां लाकडी ठोके, जगो डोहो, तळसी हाथे आया, गलो आववानो हतो पण दापानुं नाम लेदुं ने कमळीअे अेना डाचा पर बे त्रण ठोकी दीधी, अकळायेला गले कमळीनां रुस्कां हादां ने कमळीअे गलानां, अेकबीजान उंदा पाडी रह्यां. गलो भाई बापा करतो कमळीने करगर्यो ने छूटयो पण बीजा दाडे मोडुं हुजीने तुमडुं. दापुं लेवा ना जवायुं. धुळा धुळीअे टाटलुं उगाडयुं ने भाळ्युंतो जंगलनां वांदरा ने तळावनाऽगोर नीकळी आया होय अेम पोत पोतानी रीतमां बेठां. आडां अवळां बेठेलां भाळीने अेम थइ जाय के, निया ना नामे आं खाली मोटुं कुटी मारवानुं, धुळीअे हठ लेदी, थाय ते करीलो, दापुं तो ना आलुं. अेनो भाई आकरो, दापुं ते लेवानो, मफतमां देवानो कायदो नथी. धुळो कंइ ना बोल्यो, धुळी बकती ती. गामना आगेवान तेडाव्याने पंस भेगी करी, गाममां वार वागी गइ, दापावाळा आया से, गामलोकोने थायुं आजे नक्की कोइ कुटाइ के कपाइ जाहे, वातो पर वातो गाममां फरती थाइ,

केटलांक कानमां ने केटलाक छडेचोक, धुळानुं घेर घेर्युं, कहीने अेकबीजानी टापसी पुरावे, केटलांक दापुं लेवा आवनारानां हथियार हाते गणतरी करें. दापावाळा हवारना पोरमां आवीलाग्या, भाला भळके ने धारग्यां ककले, कडग्याळी डांगने फेरवी फेरवी कडां ठीक करे, गोफणना वांगरा तपाहे, धारग्यां, भालडी निहाळी धार काडे, कइ कामे लागी ग्यां जाणे आं कारखानुं खुल्युं.

जगो डोहोने तळसी धुळीना भाई पाहे बेठा ते अेने पानो सडाव्या करे.

धुळाना गामना लुकंय अेक संप करी दापावाळाने घेर्या. गामनां लुकने थायुं आजे खराखरीनो फेसलो थवानो छे. सरकार के पुलीसना कायदानो अमल आ गाममां नथी, लोको हाचने नमे, लडयां झघडयां राजमां के पुलीस थाणे ग्यां नथी ने जवानां नथी, सरकार करतां गामनो निया ताजो ने तरत मळे पछी राजमां जावेनी कां वात, खूननो बदलो खूनथी तो कोइवार समजावटथी थाय, गुनानी फरियाद सरकारमां थाय तो लुक पैसे टके तूटी जायने केद थाय ते नाळी अेटले गुनानी पतावट लुक जे शिक्षा के दंड करवो होय ते गाममांज करे. आजे झघडो ने काले भेळां, काळुं गोरुं थाय तो गामनां लुक गुनो करनारने मारीने अधमुवो करी दे, गुनो करनारनी अडधी जिंदगी मारथी तूटी जाय अेटले गुनो करवानुं नाम ना ले. बे गाम वच्चे आंटी पडी. धुळाना गामना लुक दापावाळा हामे धारग्युं उरुं करे, गुफण भमावे, कामठां लइने फरे ती भळाय.पसातिया मथ्या पण वात कोन बाजती, धुळीने मनावी पण ना नमी, अेकनी बे ना थइ.

पसना कायदाथी इपेर कुइ कायदो नथी ? मनख जात पेदा करनारनो कुइ कायदो खरो के नीं? पेदा करीनन इनी धरती इपेर अमथां रमतां मेल दीधां, मारे पेदा करनारने पुसवुं से के तारां पेदा करेलाने दःख पडे ते वेळा तुं कां.? धुळी बोली.

इ गांडी वातो रेवा दे, आ संसार से, साल्या करे, पसमांथी कोइ बोल्युं.

मने लागे पेदा करनारानी भूल थाइ गइ, पार वगरनी वहती पेदा करी इ पेदा करनारने नथी गाठती, धुळी बोली.

पेदा करनारे पेदा कर्या तेवां पाळे, भूख्या उठाडे पुण भूख्यां ना हुवाडे, इनी जवाबदारी से. पसमांथी कोइ बोल्युं.

लुक के से दःख वेळा हरगमांथो कुदे, पाणीमां पेदा थाय, जमी फाडी बारतो आवे. लवारा करती धुळी बोली.

मने लागे मंदिरमां हुनुं रुपुं अन रुपग्या खाइने धापीग्यो, इ मुटांनो धणी नानाने ना गणे, सरकारना अधिकारीओ जेवो लालसु से, गरीबनो इ बेली नथी. धुली हजी गणगणे.

दाती नथी करे, काम सालवा दे. पसमांथी कोइ बोल्युं.

इनो कायदो के न्या जेवां लागतु नथी, होय तो पसना कायदान उखाडी फेक, तने कोण कोरे, धुळी बोली.

इ दनियांनो धणी मन पडे इम साले, इनी मरजी. पसमांथी कोइ बोल्युं.

अरे इनुं साले तो सालती हवा रुकी दे, पाणीमां वाट पाडे, डुंगरा खखुळी नाखे, दरग्यो विसुळी काडे, सांदो सुरज ताराने सालता उभा राखी दे, क्यां ग्यो इनो न्या? बुठी तरवार थाइ म्यान थाइग्यो के हुं? कापतो नथी, दःखीओनी वारे सडतो नथी, दंडने कायदा बुठा थाइग्या लागे. धुळी बोली.

बाइ जात जाणकार लागे. पसमांथी कोइ बोल्युं.

इ पेदा करनारने कंइ ना केवाय, पेदा करी थुटटा, जीवतां आवडे इ जीवे, आटली मोटी जंजाळ पेदा करी कां कां नोद राखे. पसमांथी कोइ बोल्युं.

अमे गांडा घेला केवाये, अमारी भूल थाय, बुल्युं साल्यु माफ, जो तुं हाजरा हजूर होय तो बूल करे तेने हमजण अने शांति आल, रीबावाथी दि ना वळे. धुळी बोली.

दःखीयांना धणी, तारुं राज अमर होय तो तुं वारे आव, सलाड तारुं खप्पर, अनीति कापी पाटु मार, तनेकोण रोके ? धुळी बीजीवार बोली.

इ ते अंतरयामी से, इने पारखवो अघरो, आ बदी इनी लीला से, हमजुने हमजाय. कोइ हमजु माणह बोल्युं.

के वाय से के घटघटमां तुं से, पळेपळ तारी से, तारा वगर कोइ जगा खाली नथी, दःख अने हक (सुख) पण तुंज से, राजीखुशीमं राखवुं अने रीबाववुं इ तारो धंधो से, मारो कयो वांक गनो ? मने कया गनानी सजा? के ती धुळी गळगळी थाइ गइ.

आ बधी वातोनुं पोटलुं वाळी एक पाहे मेलो ने दापानी वात करो. दापावाळामांथी

कोइ बोल्यु.

धुळाना मामा नगजीने कोइअे खबर आली ते मारते घोडे आया, वाडना छींडामांथो अेक पोग बारतो काडयो ने जगोडोहो ओळखीग्यो, जगाडोहाने मनोमन थायुं. खेख खलास.

जगा डोहा हवे तो लाकडां भेळो थवानो, हु काम लाकडां लडावे. नगजीना बोल हांभळी जगोडोहो फफडीग्यो.

तारा गामनी बायडियुंने रंडाती भाळवा बेठो के गामनो उजाडवा, तमारा पापे गामने हुं काम दःखमां नांखे. नगजी बीजीवारनो बोल्यो.

दापुं लेवानो रिवाज छे ने आव्या, लडाइ झगडा माटे नथी आया, अमारो हुं गनो.

केम वळी हुं गनो, को के हमीचार वगरना तमु, दापानो को ते आलवो तो, नगजी उकळ्यो,

दापावाळांने हमजायुं तेमने नगजीने टाडो पाडयो.

गामने खबर नथी ने धुळीनो भाई, जगोडोहो, तळसी मळीने गाम लोकने तेडी लाव्या पण धुळी धुळाने खबर ना आली, दापावाळांने खबर पडतां धुळीनो भाई, जगोडोहो ने तळसीने उबेटे लेदा. भूल हमजातं धुळीना भाईनी पाकी धुलाइ थाइ गइ.

जगोडोहो ने तळसी सगीबेनोने परणेला अेमनुं हाहरुं धुळाना गाम पाहे. जगाडोहानी हाहु लाकडीना टेके साले इ काने वात पडतां ना रेवायुं ने टक टक करती लाकडी ठोकती आवी लागीने पाहे आवी उबी, कासळीना गुंजामांथी छींकणीनी डबली काडीने सडाको मार्यो, ने जवां हामे हाथ राखी जगा डोहाने ओळख्यो.

जमाइ जगा, माथामां पळग्यां आयां तीये हवे गरवा मंडयां पुण तमु पासानीं पडया, नाकमांथी छींकणी उडे ने फोयणां फंगरावी जगो डोहो ने तळसीने आडे हाथे लेदा. धुळा धुळीअे डोहीने टाडी पाडी. दापावाळा हमजयाने धुळाना गामना लोकोने हमजावी पाछा बोलाया.

धुळो दापावाळां हामो फर्योने मलकायो, मेमान तो कोकने तां आवे, कही दापावाळांनी वसमां उबो, आया दापुं लेवा पण हरमायाने धुळीना भाईनो वांक काडवा मांडया. धुळीनो भाई के, में तो घणी ना पाडी पण जगो डोहो ने तळसी माने तो ने, दापामांथी अेमने लाग

लेवो तो.

मफतनुं मळहे करताकने दोडया पुण पासलो वस्यार करवो तो, तमु जाहो इनो वांधो नथी, पाछळांने हुकाम दःखमां नाखो. जगानी हाहु हजु ओहरी नथी.

डोही जाहेरमां बोले ते तळसीथी सहन ना थयुं ने गरम थाइ ग्यो. आ डोही महाणमां जवाना बदले आं कां आवी, डोहीना हांभळे अेम करी धीमे बोल्यो पण डोही हांभळी गई, लाकडी खखडावती उभी थाइ गइ, तुं मने महाणमां काडे? तुं ने तारुं आखुं खुज जाय महाणमां , ते दन पेला साहेबनी बायडी साहेबने केतीती तुं महाणमां हमळाजे, अेम तुं हमळाजे. तारी ससडावुं राब, तारा नांमनुं बाजडुं झीलुं तारा पजवुणथी घेर लेवाइग्युं से तां हदी, तुं जरीक सुटली हाथमां आववा दे पछी तारो घाट घडुं से, हाहा ही ही तळसी कानमां आंगळां घालीग्यो. धुळी डोहीने पकडी घरमां लइ गइ. धुळाअे भेगां थयेलांने हुकम कर्योने घेरनी बार सूला गोठवाइग्या, हांडलां सडीग्यां, मेमानुं हारुं सुका ने दाळ तैयार, खाखराना पान मेमानोने पकडाव्या. हारती फरे ने हबडाटा भराता जाय, गामनी बायडिओने गाउ गाउ थाइग्युं ने गीत गावा सडावो कर्यो, जुवांनडियो तो वेवाइने नाम पी मस्का मारे

हु भाळु ने मगनो मसकावे हां...हा....
हु भाळु ने छगनो मसकावे हा..हा...
मारी हरमेना राखे रे...हा...हा...
हुं भाळुं न.....वजीयो मसकावे हां.....हा.....
मारी हरमेना राखे रे....हा....हा.....

बीजी पाहेथी बीजो लेहको निकळ्यो....

मूल भाषा : गारो    लोककथा

# गारो सृष्टिकथा

गारो मानते है की पृथ्वी का जन्म हुआ तब वह पानी से ढकी हुई थी। पृथ्वी पुरी बंजर थी।सिर्फ पानी था। ऊपर अंधेरा था। ना सूरज था ना चांद ।

सर्जनहार टाटारा राबुगा की इच्छा थी की पृथ्वी का जन्म स्त्री के पेट से हो। इसलिए उन्होने पृथ्वी को जन्म देने के लिए नोसट्टु नोपानट्टु को भेजा। नोसट्टु नोपानट्टु समझ नही पा रही थी की किस तरह वह पृथ्वी को जन्म दे पाअेगी क्योंकी उसके रहने की कोई जगह नही थी। पहले वह पानी पर मकडी की जाल पर टिकी। जब टाटारा राबुगाने यह देखा तो उन्हे बडी दया आई और उन्होने उसे थोडी रेत दी। नोसट्टु नोपानट्टु रेत पर पृथ्वी को जन्म नही दे पाई क्योंकी रेत स्थिर नही थी।

फिर उसने एक केकेड को पानी के तट से थोडी मीट्टी लाने को कहा । किन्तु पानी बहुत गहरा होने के कारण केकडा  खाली हाथ वापस आया । फिर नोसट्टु नोपानट्टुने चीपोन्ग नोकमां बालपोन्ग गीटेल नामक एक छोटे केकडो को पानी के नीचे से थोडी सी मीट्टी लाने को भेजा। छोटा केकडा भी पानी से डर गया और मीट्टी लिए बिना ही लौट आया। फिर एक बार नोसट्टु नोपानट्टुने एक गुबरेले को मीट्टी लाने भेजा। गुबरैला पानी मे गया और मीट्टी का गोला बनाकर उसने नोसट्टु नोपानट्टु को दिया। इस तरह नोसट्टु नोपानट्टु अपने कूँखमें पृथ्वी को रख पाई और जब प्रसव का दिन आया तब उसने पृथ्वी को जन्म दिया।

पृथ्वी का नाम 'माने पीलेह'(पृथ्वी) रखा गया। पृथ्वी का आकार दो शिखर वाली एक विशाल चट्टान सा था। बडे शिख्र का ना 'मेजर' और छोटे शिखर का नाम 'दिन्जर' या । लेकिन यह अभी बहुत नरम थे। पृथ्वी माँ पूरी तरह जमी नही थी। अभी भी सतेह का ज्यादातर हिस्सा पानी था। यह देखकर नोसट्टु नोपानट्टुने टटारा राबुगा को पृथ्वी को ढोस करने की बिनती की। टटारा राबुगा को दया आई और उन्होने आकाशमें सूरज और चांद

लगाये फिर उन्होने पृथ्वी को तपाने के लिए सूरज की गरमी का उपयोग किया और हवा को तीव्र गति से चलाया। टीले लोट्टे जैसे सख्त बन गए और पृथ्वी ठोस बन गई । इस तरह पृथ्वी स्थिर हुई और चट्टान भी धन बनी ।

टटारा राबुगाने पृथ्वी को एक कमरबंध दिया, बादलो का आवरण दिया, बरगद, पीपल, बोलोन्ग, साल, सावे, बाँस, रेजक, इत्यादि, वृक्ष पृथ्वी के केश बने कासी, टीलु, गोन्ग, घाँस, सामीन जैसे अनेक पोधे उसके वस्त्र बने।

टटारा राबुगाने पशु बनाने के बाद हर प्रजाति को फर्ज़ सोंप कर उन्हे अपनी तादाय बनाने का आदेश दिया। लोगो को सूबह होने से पहले मुर्गे और जंगली कुकड कुकरु कु करते है और हुलोक सुबह होते ही किलाकारते है। इनके अलावा उन्होने विविध पंछी, पशु और कीड़ो को अलग अलग ऋतुओ के मुताबिक अपने अपने कार्य करते रहने को कहा। आज तक हर प्रकार का जीव भूले बिना अपना कार्य निभाता आ रहा है।

पानी मे रहने वाले हर किसम के जीव भी उन्होने बनाये। लोगो को बारीशके आगमन की जानकारी देने का कार्य उन्होने मेंढ़क सोंपा। इसलिए बारीश की मौसम की आने की खबर लोगो को मेंढक देता है। कहते है की जब मेंढक बोलते है तो बारीश आने का समय होता है।

पृथ्वी की पपड़ी के नीचे की जगहमें पानी जमा हो गया देख टाटारा राबुगाने 'नोरे छीटे, कीरमे बोकरे'(बारीश की माँ)को झरने और नदीयो को बहार निकाल कर बहाने को कहा । इस तरह झरने और नदीयां बहने लगी। उन्होने आकाश मे बिजली और गरजना को बनाया और लोगो को बारीश की खबर देने का काम दिया। ये ही कार गारो मानते है की बारीश से पहले बीजली और गर्जना होते है ।

(गारो 'आ चीक मान्डे' भाषा के केरोलीन मराक के अंग्रेज़ी पर से हिन्दी अनुवाद : रुपाली बर्क)
(संकलनकार, अनुवादक एवं संपादक, केरोलीन मराक गारो संस्कृति एवं साहित्य के रव्यातनाम विद्वान है।)

**स्रोत :**

केरोलीन मराक दस्तावेजित, अनुदित एवं संपादित गारो लीटरेचर /नई दिलहीः साहित्य अकादमी, प्रथम आवृतिः२००२

# स्मरण

# *Remembrance*

# नारायण देसाई : एक वीरल मानव

**कानजी पटेल**

आजकल हमारे देशके जीवनमें समाजके सभी पहलूओंको देखनेवाले, समझकर समाजको समझानेवाले नेतृत्वकी  कमी महसूस हो रही हैं । स्वातंत्र्य आंदोलन के समयमें आदर्शो, मूल्योंकी जीवंत उपस्थिति हमारे देशको हो रही थी । एसे में नारायणभाई देसाई का जीवन बहुत बडा आश्वासन हैं । सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, न्यायको सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूपमें जीकर बतानेवाले नारायणभाई हमें हमेशां यह निदर्शित करते रहे कि गांधी का सत्य-अहिंसाका दर्शन कैसा था ।

गांधीको उन्होने अपनी भूलोंका पुनरावर्तन न करनेवाले विकासशील मानव और सत्ययात्री बताया । उन्होंने गांधीको स्वयं में, दर्शक लोगों की स्मृतिमें, गांधी के जीवन और वाणीमें ढूंढा, लोगोंको दिखाया, ताकि हम यह न विस्मृत करें कि एक एसा व्रतधारी मानव हमारे बीच कभी आया और हमें उच्च जीवनके लिये आदर्श देता रहा । उन्होंने 'गांधीकथा' कहनेका एक नया रास्ता लिया । गांधीप्रेमीओं, जिज्ञासुओं में गांधी विचारके बीज को टटोला, बोया, अंकुरित किया जिससे हमारा समाज सत्य, अहिंसा के मार्ग पर शांति पा सके । यह कथा गुजराती, हिन्दी, सूरती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में कही। जैसा श्रोतागण वैसे लहेके में वे गांधीकथा कहकर गांधीविचार, गांधीप्रसंगोको लोकप्रिय बनाते गये ।देशके विभिन्न भागोमें, विदेशोंमें यह कथाप्रवाह पंद्रह साल तक चला, जिसको मुद्रित, ध्वनिअंकित स्वरुपमें भी लोगों के पास बादमें पहुंचाया गया । गांधी को लोकहृदय तक सरल स्वरुपमें पहुंचानेका यह प्रयास एक अैतिहासिक घटना हैं । चारों ओर इस उपक्रमका स्वागत और स्वीकार हुआ।

गुजरात विद्यापीठके कुलपतिके रुपमें खादी, ग्रामसेवा, नई तालीम आदिको उन्होंने पुनः नया बल दिया। उनकी उपस्थिति से ही विद्यापीठ और गुजराती साहित्यपरिषद ही नहि

किन्तु गांधीप्रेमी आम समुहमें एक नयी चेतना, प्रवृति का संचार हुआ । नवनिर्माण आन्दोलन के बाद के गुजरातमें और २००२ के बादके गुजरातमें उन्होंने गांधीविचारके प्रकाशमें अपना कार्य किया ताकि समाजमें गलतफहमी न हों । उन्होंने शालेय शिक्षा तनिक भी नहिं ली और अपने ज्ञानको सत-संग और मैत्री से हमेशां बढाते गये । भूदान आंदोलन, शांति सेना, नयी तालीम, खादी, स्वच्छता, सर्वधर्मसदभाव और समाजाभिमुख साहित्यके विचारों को अपने माध्यमसे पेश किया । गांधीजी की जीवन और वैचारिक कृतिको अपना आयुष्य समर्पित करनेवाले इस वीरल व्यकित्वकी हर एक सांस समाज के विद्यायक चिंतनको समर्पित थी ।

उन्होंने जुगतराम दवे, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, महादेव देसाई और महात्मा गांधी के विचारों, कार्यो के बारेमें विस्तृत पुस्तकों का लेखन किया । अहिंसक समाजके निर्माणमें विद्यायक आदर्शों की समझको बढावा देने के कार्यको उन्होंने प्राथमिकता दी । गांधीने जो आचरित किया सोचा उन सब विषयों पर उन्होंने अपने गांधीको प्रत्यक्ष परिचय, अनुभवके आधार पर ठोस आधारों पर आधिकारिक व्याख्या की, जिससे गांधीविचार की महानता और प्रस्तुतताको लोग समझें और संशयोंका समाधान हो ।

नारायणभाई देसाई का व्यकितत्व सर्वसमावेशीता के गुणसे बना था । उन्होंने जीवनको पाठशाला के रुपमें देखा । सत्संग और मैत्री उनके गुरु रहे थे । गांधीकी भक्ति की, लेकिन गांधीको तटस्थता से देखते हुअे। अपनी व्यक्तिताका भी समुचित स्थान हर समय, हर बातमें उन्होंने रखा जो उनका विशेष था ।

गुजराती साहित्य परिषद के प्रमुख होने के तुरन्त पश्चात् समावेशीता को लिये उन्होंने साहित्यकारो, पाठकवर्गको गुजरात के अनेक समाजों के साहित्यके प्रति ध्यान दिलाया। दलित, आदिवासी, धुमन्तू, महिला लघुमति आदि समाजोंको अभिव्यक्ति मिले उसके लिये चर्चायें, योजनायें बनाई । साहित्यका जुडाव समाजके साथ बढे इसलिये गुजरातके अनेक गाँवों, शहेरोंमें ग्रन्थयात्रायें की । बालक, युवा, लेखक महिला आदि सब वर्गोको टटोला, कि ग्रन्थसे ज्ञान हैं, ओर वही मानवकी शोभा व पहचान हैं। इसलिये पुस्तकसे अच्छी सोचसे मैत्री व सत-संग करो ।

मुझे उनसे मिलने, संवाद करनेके छह प्रसंग मिले। में उनकी वाणीके, अनपेक्षित किन्तु सुयोग्य शब्दों को सुनना, समझना और संवादमें अपने विचार जोडनेका अवसर

अनोखा रहा। ग्रामीण आदिवासी युवा साईकिल यात्रा पर दांडी जाकर १ मई २००८ में मिलनेवाले थे। दांडी जाते वक्त वेडछीमें नारायणभाई से मिलकर, आशीर्वाद लेकर आगे बढनेका निश्चित हुआ था । लोकजागरण करने में सत्य अहिंसा के महत्व को बताकर उन्होंने शुभाशिष दी। एक वर्ष बाद वहीं, दांडी किनारे के वटवृक्षके तले वे अति प्रेमसे आये । १ मई २००९के रोज आदिवासी साहित्य संमेलन को उद्धारित किया और दरिद्रनारायण, वंचितोंके प्रश्नोंको न्याय दिलानेके लिये नवसाक्षरों और आदिवासी युवाओं को उन्होंने प्रेरित किया यह अमुल्य पल आज भी स्मृतिमें तादृश हैं । यह वो जगह थी जहाँ कभी गांधीने नमक उठाकर देशको जगाया था ।

आज हमें यह देखना, करना हैं जिसे महान व्यक्तियों के आदर्शकी बात केवल बात न बनकर समाज परिवर्तनके लिये ठोस कदम बन जाय तो हमारे बीच इन महान चेतनाओंका असर हम पर हुआ हैं ऐसा हम कह सकेंगे। पीछले कुछ वर्षोमें आदिवासी धूमन्तु, दलित, धार्मिक लघुमति, महिला, आदिके बारेमें जागृति आई हैं। लेकिन लोकतंत्रके सुफल उन सब समुहों को नहि मिले हैं । गांधी आज जिवित नहि हैं । नारायणभाई भी नहि। हम सबमें जो सद-अंश हैं उसको सबमें बसे सद्-अंशसे जोडकर कार्य अगर करते रहे तो दुनियामें अहिंसा, शांति, सर्वधर्म समभाव ही नहि सर्वधर्ममभाव कायम कर सकते हैं । हम हमारी शक्तियोंको कम न आंकें ।

बहुत कम बार मिलने पर भी जिनका प्रभाव मेरे मन पर हुआ हैं एसे मधुर, सत्यनिष्ठ, वत्सल, देशप्रेमी, व्यक्तित्व को हृदयसे, नत मस्तकसे प्रणाम करता हुं । मानवीय -निसबत आजके समयमें वीरल होती जा रही हैं एसे में हमें और नये कृति के दीपक जलाकर प्रकाश रचनेकी जरुरत हैं ।

# Being a Writer Being a Woman

**Esther Syiem**

When I was a child and visited my grandmother regularly, I always looked upon being a mother and grandmother as somehow being connected to everything around, trees and vegetables, hens, roosters, chickens and eggs, fields and orchards, bulls, cows and milk. I was selfishly connected to my mother and being the youngest, admitted no one else into these connections. In hindsight, I can say that in my selfish little world my grandmother's farm connected me to a world that refused to inch away, despite the urban lifestyle that overtook me, despite the luxurious cityscapes that would have provided me with undreamed of comforts. I still have memories of my grandmother's warm hearth and broiling, blackened pot; of a time tucked away in a distant corner of a past that my children will never see. Strangely it was the roughly hewed thick, wooden flooring and the smell of hay and oranges piled up high in a dark room, nostrils blackened by the soot of the paraffin lamp that gave me a sense of rootedness. There was none of the antiseptic, sparkling cleanliness of a mosaic of tiles against granite of a modern mansion. Because this was where my mother came from; and if these were her roots so would I claim them too. That was what I must have thought, because even though I hated spending nights in my grandmother's house because it was so dark and unlighted – they had no electricity then – yet I gobbled up stories about life in Mawlai. My Syiem grandmother preferred to live in the village but mother

followed father to the town nearby. Mother would recall a life that was fantastically free and unrestricted, untamed and innocent, tangy as the wild wild-strawberries and tasty as the popping gooseberries that dotted the banks of the Umshing river where mother and her friends washed their clothes and bathed. My grandmother of course was too much into it to talk about it. She smelt of it, however, and her unshod, bare feet even in the frosty cold of a January morning made me at once ashamed of her old fashioned disinclination to buy shoes. There were other items on her priority list. She was small but strong and, I never knew it then, a woman with a will of her own. She must have had her dreams too, but life had taken them all away from her.

I had no grandfather; only raucous, pungent stories about him. I did have a father, but he was respectably identified with another world in the town where we all lived together. So, there was always two of me. One abided by the Protestant work ethic of a father who combined the idealist and the practical man within him; the other, dreamed of the earthy joys of an abundant life with nature, that sprung chiefly from my rural, maternal associations. Added to these early experiences was our domestic, Kong Let, also from rural Mawlai, who filled my head with stories that went on for nights on end till she decided to bring an end to them. But I found out that I never was replete; I kept tapping father and mother and the daily-wage workers who would visit us from Mawlai, the few maternal grand-uncles talkative enough to let fly a good number of ghost and other stories, and all the other people who found their way to the backdoor, for more and more stories. My father also had his share of stories. The front door visitors were never as interesting as the back door, kitchen variety ; seekers of companionship and warmth, a cup of tea with a bowl of cold red rice and entertainment; the wages, I always

observed, looked as if they came as an afterthought. There were no TVs those days, only those kitchen performers who fed me at least, with all the raw, earthy stuff never written down in the books I read at school.

My journey as a writer had started. I never knew it then. I do now. And as I look back I find that my life was being replenished continually with the kinds of stories that took me far away from where I was, back into the realm where myths are created and legends are formed. This world that had burrowed deep inside of me, never let go of me until one day and many days after that, my now asthmatic mother valiantly but not unwillingly, sat with me and re-charged me with long lost stories, all over again. I have lost the diary where I made the entries. Deliberately perhaps like the Khasi messenger who lost the script?[1] I can never tell. But in losing it I find that I am forced to struggle very hard, not only to keep those stories alive but also to share them with anyone willing to listen to me. I am convinced that there is deep knowing and wisdom to be had from these simple stories.

This was the move into another phase when, after a brief sojourn in the civilised wilderness of the metropolis, I found myself back home confronting the untold stories of my people, confronting myself and asking myself what these stories would be worth, to the rest of the world. And even as I asked myself that question the old story about how the Khasis lost their script kept coming back unbidden to me. The haunting has been especially surreal for someone who belongs to a society that is matrilineal, where lineage is traced from the mother and where women are the custodians of society's values.

Hence I retain my maiden name Syiem from my mother's mother and her mother's mother, all the way back to the legendary Pahsyntiew. One sees that in the number of women who are traditional healers, midwives, entrepreneurs and story tellers, women with a sense of a cultural mission seamlessly transmitting values to the next generation.

In such a situation, Khasi women, however, have been at odds with a society that is supposed to have empowered them. Inequalities exist and paradoxes prevail in a land where women have been free to shape their own destinies. The imperative to speak out as a woman, to utilise the written medium came as a shocking realisation to me. If there were men already there in public spaces writing about social, political and other eighty mattes, where were the women with their subliminal wealth of stories? It was true that they existed in their own domestic spaces; traditionally entrenched in the market setup; practitioners of long-established healing practices; shamans and story tellers; homemakers and gardeners; custodians of custom and tradition. The stories that I grew up with birthed an inexplicable desire to tell them to the rest of the world, using the newly introduced written medium. But would the world want to hear my stories and poems? Would my stories fit into what the "civilised" world would call literature, even if folk literature?

On the face of it I was a teacher engaged in regular teaching duties. But the other side that looked to the past always, the side that wanted to rewind old connections and revisit those psychic locations, could not be restrained any longer. I had to set it free because in my imaginings as a woman, I had still not let go of the story of my paternal grandmother's tryst with destiny. She is my other grandmother, my Diengdoh grandmother whose

surname my father bore but which must not be passed further down to me.

When the Great Earthquake hit the Shillong Plateau in 1897, the ancient settlement of Sohra, like all others, suffered severe damage. In the ensuing shock and panic many people were buried under rubble and debris because houses in Sohra were made of thick stone blocks and mortar – to seal out the heavy rains. My father's mother, my Diengdoh grandmother was missing, presumed dead. In the days that followed when the dead were counted and homes restored, a group of men came upon a heap of rubble and roofing that they were clearing away. *Lyngka* in hand, one of them raised his hand to break up what seemed to be a stubborn piece of column under which was buried a heap of debris. As he was about to strike, they heard a moan. The rest, of course, is history passed on from father to me and on to my children. Had they struck her we would never have been birthed. This was a fact that never got unstuck from my memory. I know that my Diengdoh grandmother moved on to become a wife, a mother, then a struggling single mother striving to make ends meet and then moving permanently to Shillong.

She looks down at me from the picture on the wall. On her lined care-worn face I read the story of her life as of the lives of other women, like my Syiem grandmother who, one sunny afternoon, was married off to a much older, already married man who had fathered children and whose seed had been tested, dragged off even as she was playing with her cloth dolls. He left her after two daughters for his original brood so that my Syiem grandmother also became a struggling single mother. And others like Kmie Koslen the expert masseuse whose "talking stories" [2] made the present remote and the past immediate; of how she successfully handled the messy small pox; and

Kongrit who treats fire victims by talking out the flames imprisoned in the victim's body and all the other women who practice what they believe and pass on their dreams to be realised by their children and their children's children who will carry on their mother's clan names.

My own children alas, they inhabit a different world; an advanced world, an electronic world? Can they undertake a journey like mine back into a past that tells me who I am? Will their journey be fruitful? That I cannot tell. All I can hope is for them to learn to look for stories that are roosting under the eaves of our homes and discover in turn what lies in the hearts of their own mothers and their own grandmothers.

NOTES:

- One day God called upon all the people of this world to receive their script from Him. The Khasi messenger went with his counterpart, a plainsman from the neighbouring lowlands. On their way back, having received their scripts from God, they were suddenly overtaken by a storm and had to cross a swollen river. Whilst trying to swim across, the shrewd plainsman tied his script to his ponytail, thus saving it from damage. The Khasi messenger put it into his mouth and inadvertently swallowed it. This was how the Khasi script was lost.

- I have borrowed this term from Maxine Hong Kingston, *The Woman Warrior*.

# Remembering U.R.Ananthmurthy

**Ganesh N. Devy**

I first met him in 1980, in Mysore. He was a professor at the university and taught English Literature. Having read V.S. Naipaul's account about him and heard about his activities during the Emergency from a Kannada writer friend, I had always wanted to meet him. In those years, Professor C.D. Narasimhaiah's literary centre, Dhvanyaloka, used to attract scholars and writers from different parts of the country. I had gone there for a seminar when, during an afternoon session, I saw him. The Kannada Dalit writer, Devanoor Mahadeva and English novelist, R.K. Narayan were present too.

I recall Ananthamurthy making a brief comment on how he preferred Kannada writing over the Indo-English – as it was called those days – and why he admired Dalit writers, but would not himself like to write like them. He knew he was a modernist and belonged to the Navya school of Kannada literature. While he had no difficulty in bearing a close literary kinship to D.H. Lawrence and Albert Camus, he wrote out of an ethos that spoke of his Udupi childhood. He drew sustainance from K.V. Puttappa and Gopalkrishna Adiga. While attached to the politics of Lohia, he knew that he did not have to hide his identity as a Brahmin.

Here was a writer with wide horizons but whose cultural roots were intact, whose political commitment was progressive but respect for freedom of the individual uncompromised. He was, therefore, unusual for the time simultaneously traditional and modern, at once critical and compassionate to

both tradition and modernity. His brief comment that afternoon in the winter of 1980 convinced me that I was going to like and admire him for a long time.

During this first and fleeting meeting, I was a mere greenhorn, and there was no chance of him ever registering my presence at the Dhvanyaloka discussion. When I met him again this time in Thiruvananthapuram at another literary seminar – it came as a bit of a surprise when he told me that he knew I was a student of Shantinath Desai, a highly respected contemporary of his in Kannada literature. URA steered the conversation towards a comparison between Gandhi and Aurobindo, sympathetic to both but preferential to Gandhi. This too came as a surprise; my doctoral work was on Sri Aurobindo and I did not imagine that he would have known about this. Those were times when academic hierarchies were taken rather seriously and it was 'natural' for professors to be intolerant of dissenting younger colleagues.

Playing safe for the first few minutes of the conversation, I stuck to inanities. But, within minutes, I realized that this professor was serious about the conversation and was inviting me to express my convictions, my understanding, my response. Despite the differences in our views, the empathy with which he listened to what I said struck me as very unusual. Also that he thought of himself not as a scholar, not as an academic, not even a literary artist, but as a thinker, as a kind of public intellectual. This put me at ease in talking to him and our conversation became more natural.

Since then we met in numerous places and had short and long conversations. Increasingly, they became easy and enriching as we rarely talked of 'isms', books and authors. Invariably we spoke of movements, contexts, cultures and nations. Lohia, Gandhi, Marx, Ambedkar, Tagore, J. Krishnamurti, Aurobindo and Coomaraswamy cropped up as familiar stops during these

conversations. In these conversations, we would refer to what was traditional and what was modern as if we had easy access to both and could be equally critical and conformist to both, as if we were free to do this without seeming to contradict ourselves. It was this freedom 'to be at once there and not there, to contain paradoxes within oneself' that he chased through his entire life. For me, U.R. Ananthamurthy remains an extraordinary example of a never ending quest for the right to be at home in alienation, becoming an alien at home. I felt close to him because of this. He felt comfortable conversing with me because he understood I was not going to typecast him in any literary 'ism'.

During the eighties, I had launched a journal for literary translation. Since it was visualized as a bridge between languages, it was titled *Setu*. It appeared in English as well as Gujarati. I wanted to introduce Ananthamurthy to Gujarati readers, and so decided that his *Ghatashraddha* would be translated into Gujarati for publication in Setu. Ajit Kulkarni, a physicist at the Baroda Planetarium, undertook to translate it. The ethos of Ghatashraddha is that of a traditional *pathshala* of the forties. The Gujarat of the eighties had no clue of that ethos; nor was a really appropriate strain of language available to bring it alive in Gujarati. Ajit Kulkarni's only option was to make up for the 'lack' by generously using Sanskrit terms. This he did well and the translation managed to create a work fairly close to the original Ghatashraddha. Most of all, the experience of love seen at a tender age, without fully knowing what it is, came through quite well. Readers in Gujarati responded to Ananthamurthy's fiction as warmly as they would respond to L.P. Hartley's *The Go Between*, a similar story from a slightly earlier era and a different culture.

Before Ghatashraddha appeared in Gujarati, the literary class in Gujarat had read about U.R. Anathamurthy in the pages of Naipaul's *An Area of*

*Darkness*. They had also heard about him through three of his literary friends who worked in Gujarat – M.G. Krishnamoorthy and A. K. Ramanujan – both had worked briefly at the Baroda University during the early sixties and Kurtakoti, who taught at Vidyanagar till he retired in the eighties. By then, A.K. Ramanujan's outstanding translation of *Samskara* had already carried Anathamurthy's name outside Kannada to other languages in India, and other English speaking countries.

In the field of post-colonial studies described during the eighties as Commonwealth literature – there was, at the time, an active debate on the authenticity of literary production in English, which for most African and Asian writers was a second language, not their mother tongue. And with critics like Meenakshi Mukherjee and Helen Tiffin, Samskara, became the most prominent example of 'authentic' Indian literature. Of course, they would simultaneously argue that the 'twice born' Indian English writing or the African English writing had an authenticity of its own, but works like Samskara exemplified an authenticity drawing upon an ability to be natural at once in two cultures.

This debate cropped up everywhere in discussions about Indian writing in English. And throughout the seventies and eighties, it engaged writers in Indian languages who felt that their writing had not received the kind of attention like the works of Tagore or Premchand in an earlier time. Indians writing in English were being discussed by Indians, who felt that it was necessary to make a common cause with writers from other former colonies as a strong rejoinder to the colonial cultural impact. They were also being discussed in the UK as literature in England was passing through a lean phase, and good books had started coming out of the colonies. In all these discussions, works like Samskara – not written in but available in English through an

AKR translation and with OUP as its publisher – figured prominently as examples of *authentic* Indian language literature. Through these debates, Anathamurthy became a familiar name in literary circles throughout the English speaking world.

Within India, the post-Nehru era, the post-Emergency time, the rise of a new generation with high aspirations, with rapid urbanization pulling India away from the cultural memory of rural lore, the spread of English hurting the life fountains within Indian languages, the related emergence of spirituality cults, adjustment politics and memory fragmentation, collectively made Samskara increasingly meaningful. In one of our conversations, I mentioned to Ananthamurthy that his short novel almost stood like an eloquent critique of India of the day. He responded by saying that he feared it probably did. Little did the readers of Samskara outside Karnataka know that there was an Anathamurthy who wrote poems and short stories as well.*Bharatipura* and *Avasthe*, novels larger in span and more complex in its weave, too, were translated into English, but failed to receive the same attention. Ananthamurthy continued to remain outside Karnataka as the writer of Samskara, just as Srilal Shukla continued to be identified as the *Raag Darbari* writer outside the Hindi world. But, to his pan-Indian reputation, two more strands were added towards the end of the eighties – of being an excellent institution builder and as a cultural activist.

Towards the end of that decade, he was chosen to head the Mahatma Gandhi University at Kottayam in Kerala as its vice chancellor. When he concluded his term, he was asked to head the National Book Trust as its chairman; and probably, even before he completed his tenure at the NBT, Ananthamurthy was elected to preside over the Sahitya Akademi. Through-out the nineties, URA became a famil-iar presence in Delhi, gently guiding those innumerable discussions that

the Sahitya Akademi organized during his time and firmly pushing the NBT and the Sahitya Akademi to more relevant areas of literary discourse. Before his time, these institutions were a little too burdened by a general atmosphere of respect and respectability. He loosened the straitjacket and infused an air of free discussion, dissent and open inquiry. He managed to lower the average age of participants in the Akademi's seminars from strictly a 50 plus to a generally 30 and 40. Youth was given a chance, their voice was given a hospitable place.

He did this all knowingly, leading the institutions from the front, but without ever allowing a coterie to take control. What added to the glory of URA's heading these national institutions was his graceful respect for dissent and his charismatic personality, an unrivalled combine. He brought it to other institutions he headed or advised, whether it was the Film Institute in Pune or the CSDS in Delhi. URA's way of working with institutions was unique.

But, probably, the one institution that most consumed him was Ninasam at Heggodu with which he remained involved ever since Subbana, his friend from his young days, started it in the stunningly beautiful environs of Shimoga. A Ninasam Culture Course, its annual fete, without the towering presence of Ananthamurthy is difficult to imagine. He brought to Heggodu all that was his – learning, questioning, literary acumen, political philosophy, activism, generosity, grace, anxieties, everything that made URA what he was when left to himself.

During the early years of the nineties, a curious essay titled 'Why Worship in the Nude?' circulated in India. It was written in the wake of a pitched protest against the practice of women being required to worship in the nude at a folk-pilgrimage site. The protest had mobilized enlightened opinion against what looked like a 'primitive' practice, obviously detrimental to women's dignity. On the other side were defenders of the practice who

wanted to retain the autonomy of their faith and opposed any interference in the Hindu ways of worship and middle class morality. Anathamurthy wrote a detailed critique of this phenomenon and the protest. I believe it to be as thoughtful as his novel, Bharatipura. He found it necessary to defend both views and at the same time be critical of both for reasons stated with extreme precision of word and tone. If anyone felt, going by Samskara alone, that URA was like Albert Camus, reading this essay would make him look more like Sartre, a philosopher of 'the human condition'.

After he moved out of Mysore, first to Kottayam and then for intermittent stays in Delhi, he was probably hoping to move to his village, but ended up in Bangalore. He spent nearly two decades there as the conscience keeper of Karnataka. At the same time he also played at being the crusader for the city and Kannada. Thus resulted his public stand on the question of the Kannada language and the name of the city, now called Bengaluru as advocated by him. These decades also saw an unusual increase in his writing.

I met him several times in Bangalore, of which two were very special. The first time was just when he had decided to move there and I had decided to quit teaching at the Baroda University for taking up the work of revitalizing folklore in the languages of the Adivasis. This was in a semi-formal meeting of the Sahitya Akademi with him, K. Satchidanandan and Chandrashekhara Kambar present. I presented some slides on tribal communities using a portable slide projector I had borrowed from the architect Karan Grover. URA watched the slides and agreed that I bring out a series of books based on the work. However, he  was foolish, to expect it to hold Anatha-looked worried, and genuinely so, about my finances. He asked if the risk of going hungry did not bother me; if I had carefully thought about my plans.

I had, and knew the implications well. So despite his concern and worry, I took the next step. On his part, he ade a provision for a small stipend without my

asking for it. In the years that followed, I heard from numerous friends that he was over-generous in his compliments about the work I was doing. I had based my *After Amnesia* on the key terms '*marga*' and '*desi*', terms that URA too had made famil-iar in his lectures. This time, he knew that I had probably gone a bit too far into the desi.

The last time I met him in Bangalore – though we did meet in between in other cities – was after a gap of eighteen years. By now I was neck deep into the People's Linguistic Survey and had gone to Bangalore in relation to some work with it. With the help of Vivek Shanbhag – a writer I genuinely admire and who happens to be related to Anathamurthy – I made it to the Ananthamurthy house. He told me that URA was on dialysis several times a week. The day I was there was not one of those, and we could have a long conversation. His wife Esther, his daughter and Vivek were all in the room. I was aware that they did not want him to feel too exhausted by my visit. They knew that they were in vigil over a genius. In my heart I prayed for his health. He asked me about the language survey and after hearing me, he said that this was the kind of work that one must do. Sporting his peculiar smile, a smile that was only his – at once shy and wise – he said, 'Eh, Devy, you have done it.' For me this was like a long awaited endorsement of the path I had chosen in life. I left the URA house with Vivek. One knew that to expect time to stop was foolish, to expect it to hold Anathamurthy for long was greedy. I was at that moment shamelessly both.

In between these meetings in Bangalore, I met him once in Ahmedabad.He had come for the convocation of the university established by Mahatma Gandhi, the Gujarat Vidyapeeth. His host was the eminent Gandhian, and an equally eminent writer, Narayan Desai. Narayanbhai invited some of us to come for an evening meeting. Seeing the two together, it was not unnatural for one to think of a meeting, in some older time, between Tagore and Gandhi. However, that was another age. This was Gujarat in the

first decade of the 21st century. The contexts had changed; so had the meanings of words like faith and commitment, freedom and expression.

Both Narayanbhai and Ananthamurthy, in their hearts, had been deeply agonized by the rapid shift in the social discourse, worried about the rise of intolerance and let down by the silence of the literary community. They said so. A few months before Ananthamurthy passed on, he made this feeling known to the world in no uncertain terms. Then he left us, leaving behind a void. If Mahasweta Devi and Narayanbhai Desai are by now unable to do what they did earlier as our conscience keepers, and if U.R. Anathamurthy too is no longer with us, I wonder, and worry, from where and how public intellectuals will arise in India to defend diversity, dissidence and the voice of the people, from where and how writers will arise who are world class because they are a school by themselves. I do not know. To know them, to have known them, has made, at least for me, life worth living.

# श्रध्धांजलि

प्रसिद्ध आन्तरराष्ट्रिय भाषा विज्ञानी डॉ. लछमन खुबचन्दानी आज हमारे बीच नहि रहे हैं । २ नवम्बर २०१५ को पूणेमें उनका दुखद अवसान हुआ ।

विश्वभरमें अनेक विश्वविद्यालयोमें अध्ययन, अध्यापनमें उन्होनें भाषाविज्ञान, समाज शास्त्रीय विज्ञान, आदिवासी विद्या, मानव प्रत्यायन के क्षेत्रमें उनका विशिष्ट प्रदान है ।

विश्वकी अंग्रेजी भाषाएं, प्रवासी सिंधी समाज जैसे उभरते अभ्यास क्षेत्रोमें उन्होनें मूलगत चिंतनात्मक लेखन किया है । युनेस्को, लिंग्वापेक्ष, लिंग्वीस्टिक सोसायटी ऑफ इन्डीया के वे सदस्य रहे है । अनेक साहित्यिक और भाषा विज्ञानीय पुस्तकोका संपादन उन्होने किया है ।

भाषा और प्रत्यायन, भाषा नीति, बहुभाषिता, सिंधी भाषा विज्ञान आदि क्षेत्रोमें उनके बौद्धिक चिंतनशील प्रदान के लिये विद्या जगत उन्हें हमेशा याद रखेगा । भाषा संस्थाके वै संनिष्ठ साथी रहे है । विद्यार्थीओ कों पढाना और शोध के लिये मार्गदर्शित करना उनके खास रुचिके विषय थे । भाषा संस्था के ऐसे सन्मित्रको हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते है ।

# अतिथि संपादकीय

**मेहुल देवकला**

सुबह की हलकी धूप, सीना तानकर खडा कोराज का पहाड और उसकी तलहटी में स्थापित तेजगढ एकेडमी। बडौदा से हालोल होकर तेजगढ जाते हुए, राष्ट्रीय राजमार्ग से उतरकर जब पहाड और जंगल के बीच ले आती है सडक तब मानो एक नया परिवेश मन, मस्तिक को बाँध सा लेता है। प्रकृति उसके बीच रहनेवाले लोग और अलग सी भाषा, एक एसा अजीब सा ठहराव है जो ठहर के सोचने के लिए विवश कर देता है।

बडौदा में 'भाषा' के मित्र बहुभाषीय साहित्यिक सामयिक का संपादन संभालने के लिए प्रस्ताव रखते हैं और मन मना नहीं कर पाता। दिनों के मंथन एवं कवि कानजी पटेल का जूझारू विश्वास ले आता हे, मुझे 'लखारा' के संपादकीय तक।

'लखारा' - परंपरागत पिठोरा चित्रकार है। जो सदीयों से, पीढी दर पीढी संजोते आए है अपने पूर्वज और उनकी संस्कृति को । चित्रकारी, नृत्य, संगीत, कथन, विधि ही उनकी भाषा है। अपनी भाषा एवं बोली में साहित्यिक प्रदान करने वाले छोटे-बडे सभी नामी-अनामी कवियों एवं लेखकों को प्रस्तुत करने वाले सामयिक का 'लखारा' से उपयुक्त नाम भला क्या हो सकता था? यहां हम कविता और साहित्य के जिन पहलुओं की बात करने की सोच रहे हैं, वे शायद आज के तत्कालिन एवं परंपरागत साहित्यिक मानदंड से हटकर बात करें, लेकिन चूंकी बात मिट्टी और प्रकृति से जुडे साहित्य की है, वह हमारे बीच की और जडों से जुडी हुइ ज्ञात होती है।

पहले जंगल और पहाड जैसे प्राकृतिक संसाधन, जो कि जीवन का मूळ आधार थे, वे छीन लिए गए। उस प्रक्रिया के चरम पर लोगों से उनकी भाषा तक छीन ली गई। वे अब न बोलते है न कोइ संवाद होता है। मानो सन्नाटे से भरी एक खाई ने बांट दिया है। इस सन्नाटे को तोडने का एक नम्र प्रयास है 'लखारा'। जब एक भाषा या बोली चली जाती है, तब न केवल भाषा किंतु उस भाषा में सदियों से, पीढी दर पीढी संजोया गया ज्ञान और इतिहास

भी चला जाता है। मानो एक पूरी संस्कृति चली जाती है।

पूर्वोत्तर के साहित्य पर केन्द्रित इस अंक में, लेखिका तेमस्युला आओ, अपनी रचना 'बुढा कहानीकार' में गर्व से कहती है कि कहानी कहना मेरी शानदार विरासत है। इस रचना के अंत मे आते आते वह अपनी विरासत को नई पीढी के हाथों से गिरते देख आहत नजर आती है। यद्यपि असम से मेरे हम उम्र युवा कवि अरूणी कश्यप नइ पीढी की अगुवाई करते हुए कहते हें, ''मेरे पास भी शब्द है, तुम्हे सुनाने के लिए भाषायें, साहित्य और कहानियाँ है। तुममें सुनने का उत्साह है? जरा सा भी!''

'अप्रसिध्ध जगह' नामक रचना में, अरुणाचल की प्रसिध्ध लेखिका ममांग दाय अपनी मिट्टी और लोगों की बात बडे ही चाव से बताती है। वहाँ मणिपुर के रोबीन नानगोम की जहां कहीं भी जाता हूँ, में कडवी समकालीन राजनैतिक वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में काम की तलाश में बाहर गए हुए अपने हमवतन भाई - बहनों का दर्द बयान करते हैं।

ये सभी कवितायें भारत के शहरों में लिखी जानेवाली समकालीन अंग्रेजी कविताओं से इन मायनो में भिन्न है कि इनमें जो भी काव्य सामग्री का प्रयोग हुआ है, वे मूलतः उसी भूमि और मिट्टी की बातें लाती है। अंग्रेजी केवल माध्यम मात्र है इन कविताओं के लिए । ये कविताएँ भिन्न हैं और इसलिए मन को भाती हैं।

पूर्वज एवं प्रकृति - आदिमता के दो मुलस्वर, इन सभी भाषाओं में लिखित साहित्य में पाए जाते हैं। गुजरात के मानसिंग चौधरी की रचनाएँ हलकअ...मन, मोवळो, आंबो और पीळी कोवली, प्रकृति के तत्वों का महिमागान करते हैं। ध्यान से पढने पर पूर्वोत्तर की और गुजरात के इस कवि की रचनाएं एकसूत्रमें बंधी सी लगती है।

अंग्रेजी में लिखी दो रचनाएं catch in the wind और being a woman मे एस्थर सियेम अपनी कल और अपनी आज के बीच की जदोजहद बयान करती है। वहीं मालिनी गौतम समकालीन महिला प्रधान कविताएं लेकर हमारे सामने आती हैं। सामयिक के अंतिम लेख में चिंतक गणेश देवी, कन्नड साहित्यकार यु.आर. अनंथमूर्ति के साहित्यक जीवन-कथन का रोचक ब्योरा देते हैं।

चित्रकार अतुल डोडीया का सविशेष आभार, जिन्होंने अपनी चित्रश्रेणी scribes from timbuktu में से black parchment नामक चित्र को इस विशषांक का आवरण चित्र

बनाने की अनुमति दी। अतुल समकालीन भारतीय चित्रकला के शीर्षस्थ नामों में से एक हैं।

हम वैश्विकरण के एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं, जहा हर चीज मे केन्द्रीकरण और सरलीकरण को बढावा दिया जा रहा है। हर कोई एक सी ही भाषा बोलता है। एक सा ही खाना खाता है और एक से ही कपडे पहनता है। विविधता जो हमारी सांझी विरासत है, वह मानों पीछे छूटती जा रही है।

पाठकों से निवेदन है कि अपने प्रतिभाव और रचनाएं भेजकर 'लखारा' से जुडे और बहुभाषीयता को बढावा दें।

# कविता



# *Poetry*

# अप्रसिद्ध जगह

**ममांग डाय**

हमारे वंश का इतिहास शुरु होता है कहानियों की जगह से ।
हम नहीं जानते की जो भाषा हम बोलते हैं
उसका लिखित अतीत है या नहीं।
कुछ निश्चित नहीं है।

पर्वत है । ओह । पर्वत हैं ।
हर ढ़लान पर हम चढे। नदी के किनारे सोएं ।
पर विजय की बात हम अब तक नहीं करतें ।

शिकारी को एक अप्रसिद्ध जगह बार बार तंग करती है।
शिकार हाथ नहीं आता ।
कल के दिन औरतोंने अपना मूंह छिपा लीया था ।
अपने बच्चों को उन्होने बोलना मना किया था।

मातृभाषा के गौरव के लिए, जिनका एसा कहना था,
हमारी पहाडीयों पर चढते हुए उन आदमीयों को
हमने कल आश्रय दिया था,
जानना क्या है जो जानते हैं,
और अब सोए हुए सभी घर, वो आदमी, सभी गाँव पत्थर बन चूके हैं ।

अगर कोई मृत्यु नहीं होती तो खबर मौन होती है ।
अगर सिर्फ सन्नाटा हो तो, हमें परेशान करते हैं ।

सूनो, प्रार्थना का स्वर दबा दबा सा है,
अगर कोई अजनबी यहां होकर गुज़रे
तो उसे आसमान देखने दो ।
धुएँ का बादल चिंटीओं के पीछे भाग रहा है।
देखो! जंगली बिल्ली को उन्होंने मार दिया है
और धनेश को मातृक नींद में दफ्न कर दिया है।

पीछे छोड आए हैं उससे भी गहरी धूंध में
ले चले हैं हमें अजनबीयों के शब्द
रोते हुए, लहराती हुई घाँसभूमि की तरह
जहां सौंदर्य के विचारों से धीरे हुए हमारे पितृ दफ्न है ।

पर्वत है । ओह । पर्वत है ।
हर ढ़लान पर हम चढ़ें । नदी के किनारे सोएं ।
पर विजय की बात हम अब तक नहीं करतें।

# मैं

**अरुणी कश्यप**

मेरे पास भी शब्द है
मैं उनको मीट्टी के सांचे में ढाल सकता हुँ
मेरे पास है भाषाएं, साहित्य, जंगल के गीत
वे सदीयों पुराने हैं
पीढी दर पीढी आए हुए भूचाल की तरह।
दादीयाँ सुनाती थी उन्हें,
मधु में डुबोये चांद के तले
आंगन मे सुपारी खाते हम जब,
बारीश की तरह वह मन भीगो देती थी,
और उससे ज़्यादा-
भीगे हुए जब समय में भीगते हैं
तो कहानियों के प्यासे नए को भीगोते हैं।
समय के साथ वह नीचे उतर आई हैं
ऋतुओं और धूंध की तरह, रहने हमारे साथ।
मेरे पास धून भी है,
पेड़ की छाल पर केंचुअे के खुन से लिखी किताबें
वह न्यारी हैं,
निर्दलीय, मेरे सीने में
दौड रही नदीयों जैसी,
दंतकथाओं से भरी,
शोकाकुल, तथापि प्रचंड ऊर्जा से उमडतीं

वसंत में गाते हुए पंछीयों की भाँति प्रेममग्न
गुमनाम, पहाडीयों के परे
जहाँ नदियां और बारीश जन्म लेते है
दंतकथाएँ, जीवनशक्ति बनकर बह चले है।
दादीयां, नदीयां, पहाडीयां,
हरे पेड़ों में छीपे गाते हुए पंछी वसंत के
और सतराह विजयों से परिभाषित
मेरा इतिहास अलग है।
उसी तरह जैसे मेरी रगोंमें ख़ून की जगह
दौडती है चाई -पत्तियाँ।

पीछवाडे की कब्रों से बोलते नवज़ात शिशुओंकी,
कुत्ते में से मनुष्य, मनुष्य में से भेड बनने की,
और पीछवाडे के नींबू के पेडों, लौकीयों
एवं नरगीस के फूलों के बीच एक लडकी की कहानियाँ।
मुझे प्रतीक्षा है हार्दिक एक आगोरा की
मयूर-प्यासे मेरे गले की अभिलाषा
मेरी भूमि की सब नदीयां,
दंतकथाएं, थकी हुई बारीश
नही बुझा सकती मेरी प्यास, आस है तुम्हारे प्यार की, देखते नहीं?
मै भिन्न हुं।
मेरे पास भी शब्द है।
तुम्हें सुनाने के लिए भाषाएँ, साहित्य और कहानियां है
तुम्हें सुनने का उत्साह है? ज़रा सा भी!

# बुढ़ा कहानीकार

**तेमस्युला आओ**

ये मानते हुए मैंने जीवन बीताया
की कहानी कहना मेरी शानदार विरासत है।

मेरे दादा से विरासत में पायी कहानियाँ
मेरा प्रमुख ख़ज़ाना था
और दुसरे संग्रहकारों से मीली कहानियों ने
मेरा कोष बढाया
मेरा वक्त आया तब मेने कहानियाँ कहीं

जैसे की वह मेरे खुन में दौड रही थी
क्योंकि हर कथन से मुझमें नया प्राणसंचार होता
और हर कहानी से
मेरी वंशीय स्मृति सुद्रढ बनती।

कहानियाँ में उस धाण की बात है।
जब छह पत्थरोंसे हमारा जन्म हुआ
जब हमारे पूर्वजोंने
हमारे प्राचीन गाँव बसाए
और प्राकृतिक तत्वों की आराधना की।

योद्धाओं और मनुष्य बनते शेर
कहानियों मे जीवित हो उठते
जैसे विविध पशु भी
जो कभी हमारे भाई थे
जिनको मानव भाषा की रचना करने के बाद
हम जंगली कहने लगे ।

दादा हमेशां आगाह किया करते थे
की कहानियाँ भूल जाने का परिणाम
विनाशकारी होगा
हमारा इतिहास
हमारा इलाका, और निरसंदेह रुप से
हमारी भीतरी पहेचान हम खो देंगे ।

इसलिए मेंने अपनी वंशीय जिम्मेदारी मान कर कहानियाँ कही,
अस्तित्वपरक इतिहास और आवश्यक परंपरा को बनाए रखने की कला
नवयुवकों को सिखाने के लिए
ताकी वह आनेवाली पीढ़ीको बता सकें।

पर अब नया ज़माना आया है।
घातक रूप से पुराने को विस्थापित करके।
मेरे ही पोते
हमारी कहानियों को बकवास मानते है,
अंधकार युग की, वर्तमान काल में अप्रस्तुत,

वे पूछते हैं
किसे चाहिए असंबद्ध कहानीयां
जब की किताबों से काम अच्छा चल रहा है?

मेरे अपनों के बहिष्करण ने
बहाव रोक दिया है
और वो मन जो कभी कहानियों से जोशपूर्ण था
अब अकल्पनीय सन्नाटे में डूबे हुए
उसके दुर्गम अंतरालों में
कहानियाँ जैसे खो चली है।

जब स्मृति नाकाम बन जाती हैं
और शब्द लड़खड़ाने लगते हैं
उस प्रारंभिक कुत्ते की तस्करी अंतडियों को
झटके से खींच निकालने की पाशविक इच्छा
मुझ पर हावी हो जाती है
और सभी कहानियाँ उसकी अंतडियों
में पडी लिपि के हवाले कर देना चाहती हुँ।

# नाम की कथा का पुनः कथन

**अेस्थर सियेम**

मेरे बारे में वे जो कथाए बताते है,
आशाकारी दासर्ता, शादी के स्वीकार
की निरर्थकताएं,
मै उन सभी का अस्वीकार करती हुं,
मै उन सभी का अस्वीकार करती हुं ।

अगर सब ठीक चले
और मेरी दरख्त -बहनों की डालीयों के ज़रीये
आसमान तक पहुंच जाऊँ
तो क्या मैं कह सकती हुं की मेरी जीत हुई है?

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

बिल्ली सी तेज़ रफतार और
जिसे मैं उस वक्त अपना मान बैठी थी
एसे एक कसैले लालची शेर के हवाले
मेरी ही माँ ने मुझे कर दिया था
उस बात की हाल ही की खोज़
के सदमे से उमड़ती स्मृतियाँ मेरा पीछा कर रही है ।

सान को कोन्ग री पाट का कोन्ग आ

क्या मैं उनसे
या अपने आप से भाग रही हुं?
मेढ़क की घीनोनी खाल में भेष बदलके
मेरी पहेचानः मुझसे भी छीपी हुई
मेरी माँ : मूषक या मानव ?

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

मूषक, जिसे में अब माँ कहती हुं
तुमने मुझे शत्रुओं से बचाया
शेर-पिता जिसने मेरा भाग्य लिखा
और मानव माता
जिसने मुझे निलाम किया
और उसी की बनाई हुई बेड़ीयो में बांध दिया,

सान को कोन्ग री पाट को कोन्ग आ

क्यां मैं अपने ही बल आगे बढ रही हुं,
या मेरे भविष्य में लिखा है
उससे ज्यादा पाने के लिए आसमान में
मुझे लीये जा रहा है?

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

अनवरत तेज़ी से बढते ऊर्ध्वमुखी पैड़ों
पर मैं चढती हुं
अज्ञानता से अनुभव तक
सादगी से संकुलता तक
ऊपर की तरफ लीये जा रही हुं
माता मूषक तुम से दुर
वायु का झोंका मुझे ले जा रहा है ।
क्या मुझे अपनी और ही मुड़ना होगा,
(मुझ पर तुम्हारी छाप)
जो मैने धरती पर स्थिर खड़ी तुम
और आसमान की ओर बढती अकेली मैं
के बीच मैने रखे हुए कम समय में ?

सान का कोन्ग री पाट को कोन्ग आ

मेरी चारों और चक्कर लगाती
संलेपन करती खामोशी के बीच
मैं आधे तक ऊपर पहुंच चुकी हुं ।
कभी जानती थी उस शेर-जंगल की खामोशी नही हैं यह
मेरी अज्ञानता में मुझे ताना मारती हुई
बोलते आवाज़ो की जब उत्कंठा थी मुझे,
एक अनछुई दुनिया की खामोशी है यह
जो न देती है न लेती है

सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

जो मेरा प्रतिरोध करती है
पर मुझे उसकी तरफ विवश करती है
क्या समान या असमान को मिल पाऊंगी मै?
इस असमान दौर मैं
मन मेरा, खाली, हदय मेरा, अस्थिर।

सान को कोन्ग री पाट को कोंग आ

आज ही सुबह में एक भंगुर समय में
जाने पहेचाने भेष मे, जाने पहेचाने समायोजनमें
जानी पहेचानी दुनिया में
एक शेर-पिता के साथ संबंध से
में जानी जाती हुं यह सोचती थी मै।

सान को कोन्ग आ फाट को को कोंग री

स्मृतियां मेरी, गहरा घाँव देने खपरे
हमेशां मेरे अपने बल पर ही
हमेंशा अकेली।

सान को कोन्ग री पाट के कोन्ग आ
सान को कोन्ग आ पाट को कोन्ग री

जब में आसमान में पहुचुंगी
कौन जाने
क्या होगा ?

सान को कोन्ग री पाट को कोन्ग आ

**२.**

जिन सम्मोहक मंत्रो ने मेरी भगिनी -सहायकों को बाहर निकाला था
आसमान को छु सके तब तक
बिना रुके बढने के लिए,
वह अब उन्हें मोहित नहीं करते,
दरखत-बहने, तुमने मुझे सुरक्षित ईस पार पहुंचाया है
अब में अपने बल पर प्रहार करती हुं
शब्द को जीवन से, जीवन को शब्द से छोपाछाप करने
मेरे सुनते कानों के लिए प्रतीतिजनक कहानी की रचना करने ।

कुछ लोग ही समझ पाए
एसे अकेलेपन की अंटीयों में,
जो कभी आदत से
या दुसरों की उम्मीद से पेश नहीं हुएं
वह ज़िन्दगीयां के अकेलेपन में दोहराई गई,
जो जानती हुं सिर्फ वही कहुंगी एसे शब्द में
मेरे बारे में कहे गए शब्द को
रुपांतरित कर दे एसे शब्द में ।
इसलिए
मेरे जीवन के प्रतिलेखन में

दिव्य माता के पुत्र के साथ विवाह करना मंज़ुर नही है मुझे
दबे हुए भविष्य का इनकार करती हुं।

अनागत चुनौतीयों के मुकाबले में
मैं अपने आप को
ज़्यादा अकेला
ज़्यादा असुरक्षित पाती हुं

में अपनी बहनों को, मेरी सहायकों को
आहवान देती हुं,
पर वह अब नहीं सुन पाती है मुझे,
वह नहीं आती हैं

यह अनुपम विवाहार्थी
जिस स्वर्ग का वचन देता है,

वो ना कभी बना मेरा,
वो ना कभी बनेगा मेरा।

को कोन्ग आ को कोन्ग री

## जहां कहीं भी जाता हुँ

**रोबीन नानगोम**

जहां कहीं भी जाता हुँ
मातृभूमि को साथ लिए घुमता हुँ ।
खोजता हुँ उसे राजधानी की सड़कों पर होते विरोध मार्च में,
सौंदर्य स्पर्धाओ में काले केष धारण किए हुए,
अब खिड़कीयों के पीछे प्रतीक्षा करती हुई लड़कीयों में।
सोचता हुं उन नौजवानों की बदनसीबी के बारे में
जो शहर के घटिया रेस्टोरन्टोंमें काम कर लेंगे
मगर वापस नहीं लौटेंगे
क्योंकि उनके वतनमें शेतानों और चोरों का राज है।

संघर्ष समाधान परिसंवादो में
प्राध्यापकों एवं सेना के निवृत जनरलों के
मेरे लोग और उनके दुर्भाग्य के विश्लेषण के दौरान
कई बार मैं उसके भविष्य के बारेमें सुनता हुं ।
किन्तु ग्रामीण संध्या के वक्त औरतें और पानी के साथ
मैं उन्हें लौटता देखता हुं ।
कहना है मुझे अपने कवि मित्रों से
उन बारह माताओं के बारे में
जिन्होंने निर्वस्त्र होकर खुद पर
सिपाहीओं को बलात्कार करने को कहा था।
दरअसल, उसके छोटे से विश्व में
काल्पनिक सफर पर जाता हुं

और कत्ल की गई आठ साल की बच्ची के लिए
इन्साफ की धूंध हटने की राह देखता हुं ।

उसकी स्थल रुद्ध दयनीयता,
उसका बेजोड वैभव जाने बिना ही
विकासकी भाषा बोलनेवाले
मेरी मातृभूमि को फकीर राज्य कहते है।
और कोई नहीं जानता उसके शव कौन उठाता है।

जानता हुं मुझे संताप नहीं करना चाहिए
(शायद मैं ही अकेला अपनी भूमि की चिंता करता हुं)
लोग भले कहे
की नयी शुरुआत के लिए
कष्ट की नयी ऊचांईयो पर जाना होगा,
पर जब भी में अपनी भूमि की सडको को छुता हुं
सभी खुश नज़र आते है, बिना किसी शिकवा के ।
मुझे संताप बंध करना होगा
या जीतना हो सके उतना संचित करना होगा
जैसे मेरे खुन में नाच रही है
मेरी भूमि की धूने वैसे ।

**ईस विभाग में प्रकाशित पूर्वोत्तर की कविताओं का स्त्रोत :**

तिलोत्तमा मिश्रा संपादित ध ऑकस्फर्ड अेन्थोलोजी ऑफ राईटींग्स फ्रोम ध नोर्थइस्टः पोयेट्री अेन्ड एसेज/ नई दिल्ली : ऑफसफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, २०११

**(मूल अंग्रेजी का हिन्दी अनुवाद : रुपाली बर्क)**

# My barefoot Muse

**Esther Syiem**

**1**

When she
called to me
once,
I'd wait
twice, thrice
for her to call again
lest, as our elders said,
it be some hoary demon
come to whisk me away.

I was cautious then
to count and count
as those elders instructed.

But the more I counted
the more she stalled,
so I fell in step with her
the moment she called me once;

much like those times when

I'd try to match up
to the barefoot strides
of my countrymen
off to trade
their wares
in those other weekly markets,
make-shift and on the move.

**2**

Will you still walk
the seasons
with me
all the way
to where the wind flies
further even
than where the arrow is shot?

Will you still swell our furrows
with the milk
that will harden
with the ripening?

You went in with him,
the naked *lymboit lymbiang*,
into *ka krem lamet latang*

to fetch the insulted sun
and flood with life
our world once again.

Will you still
skim the swimming shallows
with the *shalynnai* and *dohthli*
and the *shymprong* in the *japung*?

You fire up
the *khanatang*
that tilts those
other worlds
back into our lives.

Are you still wont
to call
even now,
for I know
you pace
the submerged byways
of my inner world
never waiting for me
however –

one pace ahead
as you've chosen
to always be –

to whisk me off
as you've always done
at no count at all?

***Meanings :***

***u lymboit lymbiang*** the rooster who was sent to fetch the sun from the mythical

***krem lamet latang*** the mythical cave in Khasi folk lore

*s**halynnai, dohthli, shymprong*** small fish found in the shallows

*japung* reeds

***khanatang*** sanctified tales

# The Catch in the Wind: About Grandmothers

**Esther Syiem**

**1**

It's the catch in the wind
that catches me son,
that carries the tone of mother's voice
that tells me again
of her own grandmother

how she crept out of bed
after weeks of regurgitating fever
that suddenly stopped
one morning
so she could seek
the company
of her plants
once again.

were you lonely
little ones,
were you angry
with this old, wizened woman
who left you far too long;

what must you think of me,
that I’d left you
abandoned and neglected
to the wind and the rain?
she’d say,

brushing aside a straggling strand of grey,
tenderly tucking in a wandering vine
back into its place within the frame,
tending to the wilting herb
that had waited and waited
far too long,
scolding the sickness that kept her away,
as mother followed close on her heels
as always,
like the puppy that she still was
lapping up indiscriminate delights
and the whiff of endless scentings.

**2**

Beaten by the elements,
mother’s ancient grandmother –
whose milch cows yielded her
all the surplus she would ever need,
whose orchard was her soul

who refused to partake
of any meat whatsoever
abstaining from habits
ingrained from the past,
like smoking meat-dripping-fat
over hearth-ful
of smouldering fire –

was always mindful of the sentiments
of her milch cows and the bull
(at all times is the need for a good bull, she'd say)
always stamping and snorting
his opinions to her;

**3**

It's the catch in the wind
that catches me son;
that tells me to tell you
how mother's grandmother
kept house for all
notwithstanding - - -

## *Crossroads*

**Mamang Dai**

The north wind brings sand, the yellow dust of grief. The west,
ice and cold night. From the south the cry of doves, cinnamon.
The east—gold.

In the street of word makers we forged words for so many
reasons...for loving, and not loving.

Change is survival. Today the mustard blooms. In spring it will
be peach. Some words I kept locked in my heart. One day, from
a distance, we would see how there is a reason for everything.

And yet, if as in my dreams I escape through a hidden door and
friends gather up my bags, I will still remember an old love lost in
the streets, waiting, or searching.

***A remembered place***

This is the remembered place—
the slope of your hand

deep inside the afternoon.

How did we reach here?
There are no shadows on the wall.
Beneath the weight of your wrist
a time knot is unravelling-
Memory, memory:
Time sleeping in our eyes,
all the rest, freed by love.

### ***Stay with the song***

The afternoon belongs to the dove
weeping for her fall from heaven.
The feast of life is laid before our eyes
but the ticking moment
discloses nothing about time,
its footsteps, and their meaning.

Evening –
the sun goes away
carrying its quiver of arrows.

Every word we utter now is a memory
until the sun returns.

Stay with the song.
At night—
Don't lose the chord
that binds all things together.

Rain blows down from the hills
pushed by grey clouds,
and a white, ordinary moon
suddenly draws our gaze upwards.

Daybreak—
It is time to leave.

Not all the things we know will heal us.
Not all the things we fear will kill us.

### *Floating island*

The sloping mountain is trying to reach me,
stretching down into the water.

Dear one, don't go away,
rest, rest on my shoulder.

Deep in my centre a woman is asleep,
pressing her cheek on my pillow
vivid with dreams.
The birds of summer are nesting in her breast.
Who knows which way the spinning current will spin.

Farewell, blind mountain, pasted on the sky.
When the day is folded away
my heart clings to the life of water...
Into the deep, into the sea green
navigating on a heartbeat
the lilies are shooting up like swordfish,
and the woman is laughing, laughing.

गुजरात

**भाषा : चौधरी**

**मानसिंग चौधरी**

## हल्कअ..मन

काले...काले..वाडले दरियामांतअ.....पाणी नेइने आवते मंजडे हा...
अेटले मन पतंगिया जेवअ...हल्कअ.....होय गअ.....हा...
कतरा दिहीथी उबडा खेताहामां जाता रअया हा...
खेताहामां छायणा.....खातार पडीने वरहाताणे वाट हेदत....हा...
वावणी कअदना दाणा वरहाताणे वाट हेदीने थाकी गया
किडे-मंकळे दाणा खोतरीने खाय जाते हा....
फहण आजे वायारो पेरवातो लागो हा....
ने...
काले...काले...वाडले दरियामांथअ....पाणी नेइने आवते मंजडे हा....
अेटले मन वायरा जेवअ....हल्कअ बनीने जिंदगीणे खुशी वेरतअ...मंजडे...
काले...वाडले...वरीही गये अेटले थ्हरती खुश खुश होय गोय
पेल्ले छांटे थ्हरतीमांथी...सुगांद आवणे लागी
फूबी लाललाल हिंदूर जेवी बनीने खेताहामां फीरती लागी
लाल फूबीणे तलाकामां नेइने आंगली फेरीवता
माखाण जेवी..पोची पोची नागे ने आंगलाहामां गीगलावे
वरहात पडता ज नांदरवअ उंगता ज थ्हरती लीली हाडी पेंरी नेय
पेल्ला वरहाते मोर लांबे पीछे फेलावीने नाचणे लागे

ने....टेहुंक टेहुंक करीने वरहाताणे स्वागत करे
आख्खी रात ड्राउं ड्राउं करीने देडका वरहाताणे गीत गाया करात
वरहात पडता ज जुवार-दाणाहाय चाहा लाइनमां उंगी नीहीरात
ने वायरा हारी जुवारीणा पातरा हानात ने आनांद देखाडात
ने मा...रे....मन वायरा जेवअ...हल्कअ...बनीने उडाणे मंजडअ
आजे वरहात आवता ज
मा...रे...मन पतंगिया जेवअ...हल्कअ बनी गअ....
वरीही गोना वाडला...जेवअ....मारे मन हल्कंअ...होय गअ.....

## मोवळो

बाप दादाणे समायथी मोवळो हाजराहजूर सेवा करतो
नीचकाहाय रमातणे मेदान ने मोटाहाय आरामणे जागा
मागसार पोहो मइनामां हींहीं वेठीने उबो मोवळो
फागण चैतारमां ताजे ने रसदार मोती जेवे मोवळे आपे
तप करता ऋषिणे का...आणी मोवळाणे ताप ठंडी वरहात नी नागे
ऋषिणे वाणीमांथी वेदो नीहीरीना तेंहे मोवळाहामांथी रस नीहीरे
झुम्मार जेवे लटीकते कलाहामांथी टपटप करते मोवळे पडात
आख्खा मोवळा हेठे आदियरअ जेंहे मोवळे पाथराय जात
डोशीमां छिन्न नेइने कुबेर फंडारमांथे जेहे मोवळे विसे ने खलामां नेजायने उखवे...
वैशाख मइनामां मोवळे पूरे होता मोवळो हक्को बने
जूने पातरे गुरवीने आख्खा वराहाणे फार ओणे करे
ने धीरे धीरे नवे पातरे रतुबडे-लाल बनीने आवात
नवा पातराहामां ललो रंग गाढ बनीने चढे
अेटले मोवळो अल्लड नीचकी जेवो लीलो लीलो नागे

ने लूमेलूम मोवळाणे डोडा आख्खे मोवळे आवात
मोवळाणे डोडा पाकात अेटले बोकळाणे आंचळ जेंहे देखात
मोवळाणे डोडा पाकात अेटले चीकुणे याद आपावात
डोडाहामांथे.....मडगीले काढीने डोशीमां खलामां उखवी आवे
गडो आथोहो मडगीलाहामांथ मडगील...तेन काढावणे हेराहामां जाय
गराम गराम कोदरी ने मधमधत...मडगील...तेन, हवाद याद आवे
उंडालाणे रजामां बधे नीचके मोवळा तले मिलात
फहण तीळकामां मोटाहांय मांचे मोवळा तले मिलात
लीलाछम मोवळा हेटे नीचकाहाय रमात बराबर जामे
गिकला करीने आमनाणे किल्ला रमवाणा ने
लखीटा ने फमरा सूम सूम फेरीवाणा ने
दूनु ननन..... करती गिल्ली जाय ने दंडाथी मापवाण.....
जिं निहालीमां हिखवाण....नी मीले तीं मोवळा तले मीले
मोवळो मास्तार जेवो, वडील जेवो ने दोस्तार जेवो वेवार करे
वरसोथी तिळकामां, हींहामां, वरहातामां उबो रइने सेवा करतो मोवळो..

## ख्होडो

ख्होडो अेंहे कअजे अेटले तुमाहांय चिंहीहीही करतो ख्होडो ज याद ओ
हांय जीवता ख्होडाणे वात कायनी करतो
कुंबाडाहाय तिंये कादवामांथी बनावीना उजला ख्होडाणे वात करतो हाम
कुंबाडे कादवामांथी बनावीना ख्होडामां छत नी होय
कुंबाडाहाय तिनथो ख्होडो नावीने पूंठी बाधा राखवामां आवे
बाधा राखशा पूंठी ख्होडो छतवालो बनी जाय
जीवता ख्होडा करता कादवाणे ख्होडो वदारे ताकातवालो बनी जाय

बाधा राखीने ख्होडो खेतामां टांगी देवामां आवे
उजलो ख्होडो खेतामाणा पाकणे राखवाली करे
वेंगणे, टामेटे का...मीच्चाहाय वाडीमां ख्होडो टांगवामां आवे
अेटले वेंगणे, टामेटे, मीच्चा कोइ नी छूटे
हेंगळाहाय खेतामां ख्होडो टांगीनो हुय अेटले हेंगळे कोइनी ऊखडे
तुवराहाय खेतामां ख्होडो हुय अेटले कोइ तुवरे नी छूटे
खेतावालाणे पूच्छा वगारा कोइ चोरी करे अेटले ख्होडो नडे
खेतामां चोर जाय अेटले नाग देखा पडे, फूत देखाय
चोर चोरी करे अेटले झाडा-उल्टी होय जाय
गामडाहामां-खेताहामां उजलो ख्होडो देखीने कोइ चोरी नी करे
जीवता ख्होडा करता कादवाणे उजलो ख्होडो वदारे छतवालो.

## पीली कोवली

वरहात पडता पेल्ला ज डोडा, तवेहे, चीभडे वाडामां ओहाइ जात
ने चमले-मरचीले ओरीने वाडो तियार करी देवामां आवतो
ख्हरा पाछाल फीतडा मेरे पीली कोवली, डोवळी ने भूरा कोवलाणे बीवडे ठाणात
वरहात पडता ज आख्खो वाडो जीवतो होय जाय
डोडा ने भेंडाहा हारी चीभडाणे, तवाहाणे वेना खुमारीथी चढी जात
मोटा कोवलाणे वेना जमीन पांही पाथराइने आखा वाडाणे ठाकी देत
आख्खो वाडो लीलोछम बनी वायरामां लेहराया करे
पाछाल ठाणीनी पीली कोवली वेनाइने टटार बने अेटले
पीली कोवलीणा वेनाणे झडे मूकीने ख्हरा उपार चडावाणो
देखदेखतामां वेनो लांबातो जाय नेखोबो जवळे पातरे नीहीरते जात

सूंजडीफराहाणे का...णी वेनो सूंढ काढतो जाय ने झडेहे वीलगीतो जाय
लीलाठण वेनाहा उपार हलदिरे फूने बेंही जात
बीजे-त्रीजे दिही आपळाहाय खबार सुद्धा नी पडे तेंहे
हलदिरा फूना पाछाल पीली कोवलिणे आरेअे आवी जात
नान्ह आरअ धी..र...धीर...मोटअ होत...जाय ने पीली कोवली बनी जाय.
आख्खा ख्हरा पांही पीली कोवली ने पीळी कोवली ज होय जात
चदराहामां पीली कोवलीणे देवाहाय कोवली बी कवामां आवती
चदरे देवे करने जात तियां पीली कोवली नेइ जावामां आवती
पीली कोवली पाकी जाय अेटले छूटीने ख्हरमां मूकी देवामां आवती
पीली कोवली अेटले पीली कोवली, वरहात पडता ज ख्हरा पांही चढी जाय

## आंबो

चमचमती ठंडी पडे ने आंबा पांही मोरवे आवात
जेहे कडकडती ठंडी पडे तेंहे आंबे मोरवे वदारे आवात
आंबे मांजार फूटे अेटले आंबो होळी ऊठे
लाल...फूखरे...जांबली रंगणे मोरवाहाथी आंबो रंगीन बनी जाय
रंगबेरंगी मांजारथी आंबो रंगीन बनी डोल्ला करे
धूमरअ वरीही जाय तिया मोरवे गुरीइ ...जात
ने...आंबा पांही आंबे ओछे....आवात
आंबो ते...दीहामां ज वदारे फळे-फूले
आंबे बेठने मोरवे नान्ना नान्ना आंबाहाय वाट देहात
फरपुर हियाळो बेहेता ज आंबा उपार आंबे आवी जात
मोरवे आंबाहामां कियार फेरवाइ जात तीं बी नी हुजे

फाया, कुदरातणे आपळे कियार हमजी अखुंहुं
नाह्ने आंबे मोटे होय नेआंबा पांही हींचको बांदात
माणाहा फागो जीवनरस नेइने आंबे हींचकाया करात
ख्हरमां रमती नाह्नी नीचकी कियार बाहाल होय जाय
तीं आहीय --आथाहाणे कां...खबार पडती हासे
ने...देखदेखतामां संसारसागारमां तरती छोडी देवी पडे
रातीणे आंबा उपार आकसे ख्हाणे वागले आवात
तीया ज खबार पडे का...आंबा उपार आकसे होय गये हा.
आंबो बेळीने दामाण नांखवामां आवे अेटले
आठवायडामां दामाण गुंदाय उठे
ने...अमृत जेवो रह खावाणो मीले
फाय, आंबो अेटले आंबो
पथरो ठोकअे तहुं आंबे आपे
माणाहा जेवो नक्कामां कायनी हासे
माणह जीवतेजीव बी नी काममां आवे
ने मरी जाय तिया खोट्टे नाकळे बालावे
आंबो तेअे जीवजेजीव आंबे आपे
ने उखाइ जाय पूंठी नाकळे आपे
आंबो तेअे सज्जन माणाहा जेवो गणाय
आंबो पोते वेठे ने बीजाणे सुख आपे

## बचपन

**मालिनी गौत्तम**

वह गंदी-मलिन
अपने शरीर पर लिये धूल की चादर
पहिने फटा-पुराना
ढ़ेरों दाग-धब्बों वाला
मटमैला सा फ्रॉक
कंधे पर लटकाए
प्लास्टिक की एक बड़ी सी थैली
बीनती रहती है
गलियों में,
कचरे के ढेर में,
खाली प्लॉट में,
दूध की थैलियाँ,
प्लास्टिक के टुकड़े,
रबर की पाइप,
टूटे हुए नलके,
एल्युमिनियम के ठीकरे,
लोहे के सरिये....
और भी न जाने क्या-क्या
जब -जब देखती हैं
अपनी उम्र के बच्चों को

रंगबिरंगे बस्ते, नाश्ते के डिब्बे
और पानी की बोटलों से लैस
स्कूल जाते हुए,
दौड़ पड़ती है
कबाड़ी के यहाँ
अपना कबाड़ बेचने के लिये
जब उसके हाथों में आते हैं
खनकते सिक्के
तो खनक उठती है हँसी
उसके होठों पर
क्योंकि इन्ही पैसों से तो
भरनी है उसे
अपने छोटे भाई-बहिन की स्कूल फीस
खुद को खत्म करके भी
वह बचाना चाहती हैं
उनका बचपन

## काव्य-कोकिला

मैं हूँ औरत,
सर से पाँव तक औरत,
पालने में ही घिस-घिस कर
पिला दी जाती है मुझे घुट्टी
मेरे औरत होने की,

उसी पल से मुझे
कर दिया जाता है विभक्त
अलग -अलग भूमिकाओं में,
बना दिया जाता है मुझे
नाजुक, कोमल, लचीली
ताकि मैं जिंदगी भर
उगती रहूँ
उधार के आँगन में,
पनपती रहूँ
अमर बेल बनकर
किसी न किसी तने का सहारा लिये,
कुछ भी तो नहीं होता मेरा अपना
न जड़ें...न आँगन...और न आसमान....
मुझे भी बनना है
टट्‌ार तने वाला वृक्ष
जिसकी कोटरों में
पंछी करते हों किल्लोल,
मेरी शाखाओं, पत्तियों और कोंपलों को
आकाश में फैलाकर
मैं घूँट-घूँट पीना चाहती हूँ
उजाले को,
आसमान से बरसते प्रकाश में
एकाकार होकर
लद जाना चाहती हूँ फूलों से,

सुरीली आवाज में
गाना चाहती हूँ गीत
मेरी आजादी के,
जमीन के साथ-साथ
आसमान में भी
पसारना चाहती हूँ मेरी जड़े...
लेकिन.....मेरी फैलती हुई जड़ें
शायद हिला देती हैं
उनके सिंहासनों को.......,
मेरे आजादी के गीत
शायद उँडेलते हैं
गमर-गरम सीसा
उनके कानों में....
तभी तो घोंट दी जाती हैं
मेरी आवाज...
................
सदियों पहले भी,
एक थेरियस ने किया था
बलात्कार फिलोमेला का
काट डाली थी उसकी जबान,
अपने देवत्व के बलबूते पर
बना दिया था उसे 'काव्य-कोकिला'
बिना जीभ की 'काव्य-कोकिला'

सिलसिला आज भी जारी हैं
आज भी मैं हूँ
जीभ बिना की कोकिला
ताकि यूँ ही सदियों तक गाती रहूँ
और कोई न कर सके अर्थघटन
मेरे काव्य का....

# वार्ता-कथन

# *Tales*

भाषा : पंचमहाली भीली

# धुळी गइ धुळा जोडे

**सुरमल वहोनिया**

धुळी गइ धुळा जोडे, टाड्डु पडतुं आयुं ने लुक भुलवा मांड्युं, वखत जातां गामना पंचातिया भेगा थाया, धुळी भले गइ, गामना रिवाड ना तूटे, दापु आलवुं ने लेवुं पडे इ परानो कायदो छे, घेर घेर निया ना साले, कही धुळीना भाईने अगेळ कर्यो ने ग्या दापुं लेवा, धुळाना घेरना आंगणामां जमडानी जेम ढगली थाइ ग्या.

धुळो धुळी अेमनी मस्तीमां, घरनो हमदा लेवा हाटमां ग्यांने पासां आवी हकेले तां सडाक देती लाकडी टाटला पर पाडी ने डगुंमगुं थाइग्युं. धुळीनो भाई हेंजो, एक मांने पेटे जण्यां पुण बाप नाळा, धुळीना बापे उछेर्यो पण अेमना काबुमां ना रह्यो, धुळीने तुं तारी करेने दोडावे अेटले धुळी अेनाथी बे हाथ दूर. आना घरनो धणी कइ ग्यो, दापुं आलदे, कही आंगणामां लाकडी ठोके, जगो डोहो, तळसी हाथे आया, गलो आववानो हतो पण दापानुं नाम लेदुं ने कमळीअे अेना डाचा पर बे त्रण ठोकी दीधी, अकळायेला गले कमळीनां रुस्कां हादां ने कमळीअे गलानां, अेकबीजान उंदा पाडी रह्यां. गलो भाई बापा करतो कमळीने करगर्यो ने छूटयो पण बीजा दाडे मोडुं हुजीने तुमडुं. दापुं लेवा ना जवायुं. धुळा धुळीअे टाटलुं उगाड्युं ने भाळ्युंतो जंगलनां वांदरा ने तळावनाऽगोर नीकळी आया होय अेम पोत पोतानी रीतमां बेठां. आडां अवळां बेठेलां भाळीने अेम थइ जाय के, निया ना नामे आं खाली मोटुं कुटी मारवानुं, धुळीअे हठ लेदी, थाय ते करीलो, दापुं तो ना आलुं. अेनो भाई आकरो, दापुं ते लेवानो, मफतमां देवानो कायदो नथी. धुळो कंइ ना बोल्यो, धुळी बकती ती. गामना आगेवान तेडाव्याने पंस भेगी करी, गाममां वार वागी गइ, दापावाळा आया से, गामलोकोने थायुं आजे नक्की कोइ कुटाइ के कपाइ जाहे, वातो पर वातो गाममां फरती थाइ,

केटलांक कानमां ने केटलाक छडेचोक, धुळानुं घेर घेर्युं, कहीने अेकबीजानी टापसी पुरावे, केटलांक दापुं लेवा आवनारानां हथियार हाते गणतरी करें. दापावाळा हवारना पोरमां आवीलाग्या, भाला भळके ने धारग्यां ककले, कडग्याळी डांगने फेरवी फेरवी कडां ठीक करे, गोफणना वांगरा तपाहे, धारग्यां, भालडी निहाळी धार काडे, कइ कामे लागी ग्यां जाणे आं कारखानुं खुल्युं.

जगो डोहोने तळसी धुळीना भाई पाहे बेठा ते अेने पानो सडाव्या करे.

धुळाना गामना लुकंय अेक संप करी दापावाळाने घेर्या. गामनां लुकने थायुं आजे खराखरीनो फेसलो थवानो छे. सरकार के पुलीसना कायदानो अमल आ गाममां नथी, लोको हाचने नमे, लडयां झघडयां राजमां के पुलीस थाणे ग्यां नथी ने जवानां नथी, सरकार करतां गामनो निया ताजो ने तरत मळे पछी राजमां जावेनी कां वात, खूननो बदलो खूनथी तो कोइवार समजावटथी थाय, गुनानी फरियाद सरकारमां थाय तो लुक पैसे टके तूटी जायने केद थाय ते नाळी अेटले गुनानी पतावट लुक जे शिक्षा के दंड करवो होय ते गाममांज करे. आजे झघडो ने काले भेळां, काळुं गोरुं थाय तो गामनां लुक गुनो करनारने मारीने अधमुवो करी दे, गुनो करनारनी अडधी जिंदगी मारथी तूटी जाय अेटले गुनो करवानुं नाम ना ले. बे गाम वच्चे आंटी पडी. धुळाना गामना लुक दापावाळा हामे धारग्युं उसुं करे, गुफण भमावे, कामठां लइने फरे ती भळाय.पसातिया मथ्या पण वात कोन बाजती, धुळीने मनावी पण ना नमी, अेकनी बे ना थइ.

पसना कायदाथी इपेर कुइ कायदो नथी ? मनख जात पेदा करनारनो कुइ कायदो खरो के नीं? पेदा करीनन इनी धरती इपेर अमथां रमतां मेल दीधां, मारे पेदा करनारने पुसवुं से के तारां पेदा करेलाने दःख पडे ते वेळा तुं कां.? धुळी बोली.

इ गांडी वातो रेवा दे, आ संसार से, साल्या करे, पसमांथी कोइ बोल्युं.

मने लागे पेदा करनारानी भूल थाइ गइ, पार वगरनी वहती पेदा करी इ पेदा करनारने नथी गाठती, धुळी बोली.

पेदा करनारे पेदा कर्या तेवां पाळे, भूख्या उठाडे पुण भूख्यां ना हुवाडे, इनी जवाबदारी से. पसमांथी कोइ बोल्युं.

लुक के से दःख वेळा हरगमांथो कुदे, पाणीमां पेदा थाय, जमी फाडी बारतो आवे. लवारा करती धुळी बोली.

मने लागे मंदिरमां हुनुं रुपुं अन रुपग्या खाइने धापीग्यो, इ मुटांनो धणी नानाने ना गणे, सरकारना अधिकारीओ जेवो लालसु से, गरीबनो इ बेली नथी. धुली हजी गणगणे.

दाती नथी करे, काम सालवा दे. पसमांथी कोइ बोल्युं.

इनो कायदो के न्या जेवां लागतु नथी, होय तो पसना कायदान उखाडी फेक, तने कोण कोरे, धुळी बोली.

इ दनियांनो धणी मन पडे इम साले, इनी मरजी. पसमांथी कोइ बोल्युं.

अरे इनुं साले तो सालती हवा रुकी दे, पाणीमां वाट पाडे, डुंगरा खखुळी नाखे, दरग्यो विसुळी काडे, सांदो सुरज ताराने सालता उभा राखी दे, क्यां ग्यो इनो न्या? बुठी तरवार थाइ म्यान थाइग्यो के हुं? कापतो नथी, दःखीओनी वारे सडतो नथी, दंडने कायदा बुठा थाइग्या लागे. धुळी बोली.

बाइ जात जाणकार लागे. पसमांथी कोइ बोल्युं.

इ पेदा करनारने कंइ ना केवाय, पेदा करी थुटटा, जीवतां आवडे इ जीवे, आटली मोटी जंजाळ पेदा करी कां कां नोद राखे. पसमांथी कोइ बोल्युं.

अमे गांडा घेला केवाये, अमारी भूल थाय, बुल्युं साल्यु माफ, जो तुं हाजरा हजूर होय तो बूल करे तेने हमजण अने शांति आल, रीबावाथी दि ना वळे. धुळी बोली.

दःखीयांना धणी, तारुं राज अमर होय तो तुं वारे आव, सलाड तारुं खप्पर, अनीति कापी पाटु मार, तनेकोण रोके ? धुळी बीजीवार बोली.

इ ते अंतरयामी से, इने पारखवो अघरो, आ बदी इनी लीला से, हमजुने हमजाय. कोइ हमजु माणह बोल्युं.

के वाय से के घटघटमां तुं से, पळेपळ तारी से, तारा वगर कोइ जगा खाली नथी, दःख अने हक (सुख) पण तुंज से, राजीखुशीमं राखवुं अने रीबाववुं इ तारो धंधो से, मारो कयो वांक गनो ? मने कया गनानी सजा? के ती धुळी गळगळी थाइ गइ.

आ बधी वातोनुं पोटलुं वाळी एक पाहे मेलो ने दापानी वात करो. दापावाळामांथी

कोइ बोल्यु.

धुळाना मामा नगजीने कोइअे खबर आली ते मारते घोडे आया, वाडना छींडामांथो अेक पोग बारतो काडयो ने जगोडोहो ओळखीग्यो, जगाडोहाने मनोमन थायुं. खेख खलास.

जगा डोहा हवे तो लाकडां भेळो थवानो, हु काम लाकडां लडावे. नगजीना बोल हांभळी जगोडोहो फफडीग्यो.

तारा गामनी बायडियुंने रंडाती भाळवा बेठो के गामनो उजाडवा, तमारा पापे गामने हुं काम दःखमां नांखे. नगजी बीजीवारनो बोल्यो.

दापुं लेवानो रिवाज छे ने आव्या, लडाइ झगडा माटे नथी आया, अमारो हुं गनो.

केम वळी हुं गनो, को के हमीचार वगरना तमु, दापानो को ते आलवो तो, नगजी उकळ्यो,

दापावाळांने हमजायुं तेमने नगजीने टाडो पाडयो.

गामने खबर नथी ने धुळीनो भाई, जगोडोहो, तळसी मळीने गाम लोकने तेडी लाव्या पण धुळी धुळाने खबर ना आली, दापावाळांने खबर पडतां धुळीनो भाई, जगोडोहो ने तळसीने उबेटे लेदा. भूल हमजातं धुळीना भाईनी पाकी धुलाइ थाइ गइ.

जगोडोहो ने तळसी सगीबेनोने परणेला अेमनुं हाहरुं धुळाना गाम पाहे. जगाडोहानी हाहु लाकडीना टेके साले इ काने वात पडतां ना रेवायुं ने टक टक करती लाकडी ठोकती आवी लागीने पाहे आवी उबी, कासळीना गुंजामांथी छींकणीनी डबली काडीने सडाको मार्यो, ने जवां हामे हाथ राखी जगा डोहाने ओळख्यो.

जमाइ जगा, माथामां पळग्यां आयां तीये हवे गरवा मंडयां पुण तमु पासानीं पडया, नाकमांथी छींकणी उडे ने फोयणां फंगरावी जगो डोहो ने तळसीने आडे हाथे लेदा. धुळा धुळीअे डोहीने टाडी पाडी. दापावाळा हमजयाने धुळाना गामना लोकोने हमजावी पाछा बोलाया.

धुळो दापावाळां हामो फर्योने मलकायो, मेमान तो कोकने तां आवे, कही दापावाळांनी वसमां उबो, आया दापुं लेवा पण हरमायाने धुळीना भाईनो वांक काडवा मांडया. धुळीनो भाई के, में तो घणी ना पाडी पण जगो डोहो ने तळसी माने तो ने, दापामांथी अेमने लाग

लेवो तो.

मफतनुं मळहे करताकने ढोडया पुण पासलो वस्यार करवो तो, तमु जाहो इनो वांधो नथी, पाछळांने हुकाम दःखमां नाखो. जगानी हाहु हजु ओहरी नथी.

डोही जाहेरमां बोले ते तळसीथी सहन ना थयुं ने गरम थाइ ग्यो. आ डोही महाणमां जवाना बदले आं कां आवी, डोहीना हांभळे अेम करी धीमे बोल्यो पण डोही हांभळी गई, लाकडी खखडावती उभी थाइ गइ, तुं मने महाणमां काडे? तुं ने तारुं आखुं खुज जाय महाणमां , ते दन पेला साहेबनी बायडी साहेबने केतीती तुं महाणमां हमळाजे, अेम तुं हमळाजे. तारी ससडावुं राब, तारा नांमनुं बाजडुं झीलुं तारा पजवुणथी घेर लेवाइग्युं से तां हदी, तुं जरीक सुटली हाथमां आववा दे पछी तारो घाट घडुं से, हाहा ही ही तळसी कानमां आंगळां घालीग्यो. धुळी डोहीने पकडी घरमां लइ गइ. धुळाअे भेगां थयेलांने हुकम कर्योने घेरनी बार सूला गोठवाइग्या, हांडलां सडीग्यां, मेमानुं हारुं सुका ने दाळ तैयार, खाखराना पान मेमानोने पकडाव्या. हारती फरे ने हबडाटा भराता जाय, गामनी बायडिओने गाउ गाउ थाइग्युं ने गीत गावा सडावो कर्यो, जुवांनडियो तो वेवाइने नाम पी मस्का मारे

हु भाळु ने मगनो मसकावे हां...हा....
हु भाळु ने छगनो मसकावे हा..हा...
मारी हरमेना राखे रे...हा...हा...
हुं भाळुं न.....वजीयो मसकावे हां.....हा.....
मारी हरमेना राखे रे....हा....हा.....

बीजी पाहेथी बीजो लेहको निकळ्यो....

**मूल भाषा : गारो** **लोककथा**

# गारो सृष्टिकथा

गारो मानते है की पृथ्वी का जन्म हुआ तब वह पानी से ढकी हुई थी। पृथ्वी पुरी बंजर थी।सिर्फ पानी था। ऊपर अंधेरा था। ना सूरज था ना चांद ।

सर्जनहार टाटारा राबुगा की इच्छा थी की पृथ्वी का जन्म स्त्री के पेट से हो। इसलिए उन्होने पृथ्वी को जन्म देने के लिए नोसटु नोपानटु को भेजा। नोसटु नोपानटु समझ नही पा रही थी की किस तरह वह पृथ्वी को जन्म दे पाऐगी क्योंकी उसके रहने की कोई जगह नही थी। पहले वह पानी पर मकडी की जाल पर टिकी। जब टाटारा राबुगाने यह देखा तो उन्हे बडी दया आई और उन्होने उसे थोडी रेत दी। नोसटु नोपानटु रेत पर पृथ्वी को जन्म नही दे पाई क्योंकी रेत स्थिर नही थी।

फिर उसने एक केकेड को पानी के तट से थोडी मीट्टी लाने को कहा । किन्तु पानी बहुत गहरा होने के कारण केकडा खाली हाथ वापस आया । फिर नोसटु नोपानटुने चीपोन्ग नोकमां बालपोन्ग गीटेल नामक एक छोटे केकडो को पानी के नीचे से थोडी सी मीट्टी लाने को भेजा। छोटा केकडा भी पानी से डर गया और मीट्टी लिए बिना ही लौट आया। फिर एक बार नोसटु नोपानटुने एक गुबरेले को मीट्टी लाने भेजा। गुबरैला पानी मे गया और मीट्टी का गोला बनाकर उसने नोसटु नोपानटु को दिया। इस तरह नोसटु नोपानटु अपने कूँखमें पृथ्वी को रख पाई और जब प्रसव का दिन आया तब उसने पृथ्वी को जन्म दिया।

पृथ्वी का नाम 'माने पीलेह'(पृथ्वी) रखा गया। पृथ्वी का आकार दो शिखर वाली एक विशाल चट्टान सा था। बडे शिख्र का ना 'मेजर' और छोटे शिखर का नाम 'दिन्जर' या । लेकिन यह अभी बहुत नरम थे। पृथ्वी माँ पूरी तरह जमी नही थी। अभी भी सतेह का ज्यादातर हिस्सा पानी था। यह देखकर नोसटु नोपानटुने टटारा राबुगा को पृथ्वी को ढोस करने की बिनती की। टटारा राबुगा को दया आई और उन्होने आकाशमें सूरज और चांद

लगाये फिर उन्होने पृथ्वी को तपाने के लिए सूरज की गरमी का उपयोग किया और हवा को तीव्र गति से चलाया। टीले लोट्टे जैसे सख्त बन गए और पृथ्वी ठोस बन गई । इस तरह पृथ्वी स्थिर हुई और चट्टान भी धन बनी ।

टटारा राबुगाने पृथ्वी को एक कमरबंध दिया, बादलो का आवरण दिया, बरगद, पीपल, बोलोन्ग, साल, सावे, बाँस, रेजक, इत्यादि, वृक्ष पृथ्वी के केश बने कासी, टीलु, गोन्ग, घाँस, सामीन जैसे अनेक पोधे उसके वस्त्र बने।

टटारा राबुगाने पशु बनाने के बाद हर प्रजाति को फर्ज़ सोंप कर उन्हे अपनी तादाय बनाने का आदेश दिया। लोगो को सूबह होने से पहले मुर्गे और जंगली कुकड कुकरु कु करते है और हुलोक सुबह होते ही किलाकारते है। इनके अलावा उन्होने विविध पंछी, पशु और कीड़ो को अलग अलग ऋतुओ के मुताबिक अपने अपने कार्य करते रहने को कहा। आज तक हर प्रकार का जीव भूले बिना अपना कार्य निभाता आ रहा है।

पानी मे रहने वाले हर किसम के जीव भी उन्होने बनाये। लोगो को बारीशके आगमन की जानकारी देने का कार्य उन्होने मेंढ़क सोंपा। इसलिए बारीश की मौसम की आने की खबर लोगो को मेंढक देता है। कहते है की जब मेंढक बोलते है तो बारीश आने का समय होता है।

पृथ्वी की पपड़ी के नीचे की जगहमें पानी जमा हो गया देख टाटारा राबुगाने 'नोरे छीटे, कीरमे बोकरे'(बारीश की माँ)को झरने और नदीयो को बहार निकाल कर बहाने को कहा । इस तरह झरने और नदीयां बहने लगी। उन्होने आकाश मे बिजली और गरजना को बनाया और लोगो को बारीश की खबर देने का काम दिया। ये ही कार गारो मानते है की बारीश से पहले बीजली और गर्जना होते है ।

(गारो 'आ चीक मान्डे' भाषा के केरोलीन मराक के अंग्रेज़ी पर से हिन्दी अनुवाद : रुपाली बर्क)
(संकलनकार, अनुवादक एवं संपादक, केरोलीन मराक गारो संस्कृति एवं साहित्य के ख्यातनाम विद्वान है।)

**स्त्रोत :**

केरोलीन मराक दस्तावेजित, अनुदित एवं संपादित गारो लीटरेचर /नई दिलहीः साहित्य अकादमी, प्रथम आवृतिः२००२

# स्मरण

*Remembrance*

# नारायण देसाई : एक वीरल मानव

**कानजी पटेल**

आजकल हमारे देशके जीवनमें समाजके सभी पहलूओंको देखनेवाले, समझकर समाजको समझानेवाले नेतृत्वकी कमी महसूस हो रही हैं । स्वातंत्र्य आंदोलन के समयमें आदर्शो, मूल्योंकी जीवंत उपस्थिति हमारे देशको हो रही थी । एसे में नारायणभाई देसाई का जीवन बहुत बडा आश्वासन हैं । सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, न्यायको सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूपमें जीकर बतानेवाले नारायणभाई हमें हमेशां यह निदर्शित करते रहे कि गांधी का सत्य-अहिंसाका दर्शन कैसा था ।

गांधीको उन्होने अपनी भूलोंका पुनरावर्तन न करनेवाले विकासशील मानव और सत्ययात्री बताया । उन्होंने गांधीको स्वयं में, दर्शक लोगों की स्मृतिमें, गांधी के जीवन और वाणीमें ढूंढा, लोगोंको दिखाया, ताकि हम यह न विस्मृत करें कि एक एसा व्रतधारी मानव हमारे बीच कभी आया और हमें उच्च जीवनके लिये आदर्श देता रहा । उन्होंने 'गांधीकथा' कहनेका एक नया रास्ता लिया । गांधीप्रेमीओं, जिज्ञासुओं में गांधी विचारके बीज को टटोला, बोया, अंकुरित किया जिससे हमारा समाज सत्य, अहिंसा के मार्ग पर शांति पा सके । यह कथा गुजराती, हिन्दी, सूरती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में कही। जैसा श्रोतागण वैसे लहेके में वे गांधीकथा कहकर गांधीविचार, गांधीप्रसंगोको लोकप्रिय बनाते गये ।देशके विभिन्न भागोमें, विदेशोंमें यह कथाप्रवाह पंद्रह साल तक चला, जिसको मुद्रित, ध्वनिअंकित स्वरुपमें भी लोगों के पास बादमें पहुँचाया गया । गांधी को लोकहृदय तक सरल स्वरुपमें पहुँचानेका यह प्रयास एक ऐतिहासिक घटना हैं । चारों ओर इस उपक्रमका स्वागत और स्वीकार हुआ।

गुजरात विद्यापीठके कुलपतिके रुपमें खादी, ग्रामसेवा, नई तालीम आदिको उन्होंने पुनः नया बल दिया। उनकी उपस्थिति से ही विद्यापीठ और गुजराती साहित्यपरिषद ही नहि

किन्तु गांधीप्रेमी आम समुहमें एक नयी चेतना, प्रवृति का संचार हुआ । नवनिर्माण आन्दोलन के बाद के गुजरातमें और २००२ के बादके गुजरातमें उन्होंने गांधीविचारके प्रकाशमें अपना कार्य किया ताकि समाजमें गलतफहमी न हों । उन्होंने शालेय शिक्षा तनिक भी नहिं ली और अपने ज्ञानको सत-संग और मैत्री से हमेशां बढाते गये । भूदान आंदोलन, शांति सेना, नयी तालीम, खादी, स्वच्छता, सर्वधर्मसदभाव और समाजाभिमुख साहित्यके विचारों को अपने माध्यमसे पेश किया । गांधीजी की जीवन और वैचारिक कृतिको अपना आयुष्य समर्पित करनेवाले इस वीरल व्यकित्वकी हर एक सांस समाज के विद्यायक चिंतनको समर्पित थी ।

उन्होंने जुगतराम दवे, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, महादेव देसाई और महात्मा गांधी के विचारों, कार्यो के बारेमें विस्तृत पुस्तकों का लेखन किया । अहिंसक समाजके निर्माणमें विद्यायक आदर्शो की समझको बढावा देने के कार्यको उन्होंने प्राथमिकता दी । गांधीने जो आचरित किया सोचा उन सब विषयों पर उन्होंने अपने गांधीको प्रत्यक्ष परिचय, अनुभवके आधार पर ठोस आधारों पर आधिकारिक व्याख्या की, जिससे गांधीविचार की महानता और प्रस्तुतताको लोग समझें और संशयोंका समाधान हो ।

नारायणभाई देसाई का व्यकितत्व सर्वसमावेशीता के गुणसे बना था । उन्होंने जीवनको पाठशाला के रुपमें देखा । सत्संग और मैत्री उनके गुरु रहे थे । गांधीकी भक्ति की, लेकिन गांधीको तटस्थता से देखते हुअे। अपनी व्यक्तिताका भी समुचित स्थान हर समय, हर बातमें उन्होंने रखा जो उनका विशेष था ।

गुजराती साहित्य परिषद के प्रमुख होने के तुरन्त पश्चात् समावेशीता को लिये उन्होंने साहित्यकारो, पाठकवर्गको गुजरात के अनेक समाजों के साहित्यके प्रति ध्यान दिलाया। दलित, आदिवासी, धुमन्तू, महिला लघुमति आदि समाजोंको अभिव्यक्ति मिले उसके लिये चर्चायें, योजनायें बनाई । साहित्यका जुडाव समाजके साथ बढे इसलिये गुजरातके अनेक गांवों, शहेरोंमें ग्रन्थयात्रायें की । बालक, युवा, लेखक महिला आदि सब वर्गोको टटोला, कि ग्रन्थसे ज्ञान हैं, ओर वही मानवकी शोभा व पहचान हैं। इसलिये पुस्तकसे अच्छी सोचसे मैत्री व सत-संग करो ।

मुझे उनसे मिलने, संवाद करनेके छह प्रसंग मिले। में उनकी वाणीके, अनपेक्षित किन्तु सुयोग्य शब्दों को सुनना, समझना और संवादमें अपने विचार जोडनेका अवसर

अनोखा रहा। ग्रामीण आदिवासी युवा साईकिल यात्रा पर दांडी जाकर १ मई २००८ में मिलनेवाले थे। दांडी जाते वक्त वेडछीमें नारायणभाई से मिलकर, आशीर्वाद लेकर आगे बढनेका निश्चित हुआ था । लोकजागरण करने में सत्य अहिंसा के महत्व को बताकर उन्होंने शुभाशिष दी। एक वर्ष बाद वहीं, दांडी किनारे के वटवृक्षके तले वे अति प्रेमसे आये । १ मई २००९के रोज आदिवासी साहित्य संमेलन को उद्धारित किया और दरिद्रनारायण, वंचितोंके प्रश्नोंको न्याय दिलानेके लिये नवसाक्षरों और आदिवासी युवाओं को उन्होंने प्रेरित किया यह अमुल्य पल आज भी स्मृतिमें तादृश हैं । यह वो जगह थी जहां कभी गांधीने नमक उठाकर देशको जगाया था ।

आज हमें यह देखना, करना हैं जिसे महान व्यक्तियों के आदर्शकी बात केवल बात न बनकर समाज परिवर्तनके लिये ठोस कदम बन जाय तो हमारे बीच इन महान चेतनाओंका असर हम पर हुआ हैं ऐसा हम कह सकेंगे। पीछले कुछ वर्षोमें आदिवासी धूमन्तु, दलित, धार्मिक लघुमति, महिला, आदिके बारेमें जागृति आई हैं। लेकिन लोकतंत्रके सुफल उन सब समुहों को नहि मिले हैं । गांधी आज जिवित नहि हैं । नारायणभाई भी नहि। हम सबमें जो सद-अंश हैं उसको सबमें बसे सद्-अंशसे जोडकर कार्य अगर करते रहे तो दुनियामें अहिंसा, शांति, सर्वधर्म समभाव ही नहि सर्वधर्ममभाव कायम कर सकते हैं । हम हमारी शक्तियोंको कम न आंकें ।

बहुत कम बार मिलने पर भी जिनका प्रभाव मेरे मन पर हुआ हैं एसे मधुर, सत्यनिष्ठ, वत्सल, देशप्रेमी, व्यक्तित्व को हृदयसे, नत मस्तकसे प्रणाम करता हुं । मानवीय -निसबत आजके समयमें वीरल होती जा रही हैं एसे में हमें और नये कृति के दीपक जलाकर प्रकाश रचनेकी जरुरत हैं ।

# Being a Writer Being a Woman

**Esther Syiem**

When I was a child and visited my grandmother regularly, I always looked upon being a mother and grandmother as somehow being connected to everything around, trees and vegetables, hens, roosters, chickens and eggs, fields and orchards, bulls, cows and milk. I was selfishly connected to my mother and being the youngest, admitted no one else into these connections. In hindsight, I can say that in my selfish little world my grandmother's farm connected me to a world that refused to inch away, despite the urban lifestyle that overtook me, despite the luxurious cityscapes that would have provided me with undreamed of comforts. I still have memories of my grandmother's warm hearth and broiling, blackened pot; of a time tucked away in a distant corner of a past that my children will never see. Strangely it was the roughly hewed thick, wooden flooring and the smell of hay and oranges piled up high in a dark room, nostrils blackened by the soot of the paraffin lamp that gave me a sense of rootedness. There was none of the antiseptic, sparkling cleanliness of a mosaic of tiles against granite of a modern mansion. Because this was where my mother came from; and if these were her roots so would I claim them too. That was what I must have thought, because even though I hated spending nights in my grandmother's house because it was so dark and unlighted – they had no electricity then – yet I gobbled up stories about life in Mawlai. My Syiem grandmother preferred to live in the village but mother

followed father to the town nearby. Mother would recall a life that was fantastically free and unrestricted, untamed and innocent, tangy as the wild wild-strawberries and tasty as the popping gooseberries that dotted the banks of the Umshing river where mother and her friends washed their clothes and bathed. My grandmother of course was too much into it to talk about it. She smelt of it, however, and her unshod, bare feet even in the frosty cold of a January morning made me at once ashamed of her old fashioned disinclination to buy shoes. There were other items on her priority list. She was small but strong and, I never knew it then, a woman with a will of her own. She must have had her dreams too, but life had taken them all away from her.

I had no grandfather; only raucous, pungent stories about him. I did have a father, but he was respectably identified with another world in the town where we all lived together. So, there was always two of me. One abided by the Protestant work ethic of a father who combined the idealist and the practical man within him; the other, dreamed of the earthy joys of an abundant life with nature, that sprung chiefly from my rural, maternal associations. Added to these early experiences was our domestic, Kong Let, also from rural Mawlai, who filled my head with stories that went on for nights on end till she decided to bring an end to them. But I found out that I never was replete; I kept tapping father and mother and the daily-wage workers who would visit us from Mawlai, the few maternal grand-uncles talkative enough to let fly a good number of ghost and other stories, and all the other people who found their way to the backdoor, for more and more stories. My father also had his share of stories. The front door visitors were never as interesting as the back door, kitchen variety ; seekers of companionship and warmth, a cup of tea with a bowl of cold red rice and entertainment; the wages, I always

observed, looked as if they came as an afterthought. There were no TVs those days, only those kitchen performers who fed me at least, with all the raw, earthy stuff never written down in the books I read at school.

My journey as a writer had started. I never knew it then. I do now. And as I look back I find that my life was being replenished continually with the kinds of stories that took me far away from where I was, back into the realm where myths are created and legends are formed. This world that had burrowed deep inside of me, never let go of me until one day and many days after that, my now asthmatic mother valiantly but not unwillingly, sat with me and re-charged me with long lost stories, all over again. I have lost the diary where I made the entries. Deliberately perhaps like the Khasi messenger who lost the script?[1] I can never tell. But in losing it I find that I am forced to struggle very hard, not only to keep those stories alive but also to share them with anyone willing to listen to me. I am convinced that there is deep knowing and wisdom to be had from these simple stories.

This was the move into another phase when, after a brief sojourn in the civilised wilderness of the metropolis, I found myself back home confronting the untold stories of my people, confronting myself and asking myself what these stories would be worth, to the rest of the world. And even as I asked myself that question the old story about how the Khasis lost their script kept coming back unbidden to me. The haunting has been especially surreal for someone who belongs to a society that is matrilineal, where lineage is traced from the mother and where women are the custodians of society's values.

Hence I retain my maiden name Syiem from my mother's mother and her mother's mother, all the way back to the legendary Pahsyntiew. One sees that in the number of women who are traditional healers, midwives, entrepreneurs and story tellers, women with a sense of a cultural mission seamlessly transmitting values to the next generation.

In such a situation, Khasi women, however, have been at odds with a society that is supposed to have empowered them. Inequalities exist and paradoxes prevail in a land where women have been free to shape their own destinies. The imperative to speak out as a woman, to utilise the written medium came as a shocking realisation to me. If there were men already there in public spaces writing about social, political and other eighty mattes, where were the women with their subliminal wealth of stories? It was true that they existed in their own domestic spaces; traditionally entrenched in the market setup; practitioners of long-established healing practices; shamans and story tellers; homemakers and gardeners; custodians of custom and tradition. The stories that I grew up with birthed an inexplicable desire to tell them to the rest of the world, using the newly introduced written medium. But would the world want to hear my stories and poems? Would my stories fit into what the "civilised" world would call literature, even if folk literature?

On the face of it I was a teacher engaged in regular teaching duties. But the other side that looked to the past always, the side that wanted to rewind old connections and revisit those psychic locations, could not be restrained any longer. I had to set it free because in my imaginings as a woman, I had still not let go of the story of my paternal grandmother's tryst with destiny. She is my other grandmother, my Diengdoh grandmother whose

surname my father bore but which must not be passed further down to me.

When the Great Earthquake hit the Shillong Plateau in 1897, the ancient settlement of Sohra, like all others, suffered severe damage. In the ensuing shock and panic many people were buried under rubble and debris because houses in Sohra were made of thick stone blocks and mortar – to seal out the heavy rains. My father's mother, my Diengdoh grandmother was missing, presumed dead. In the days that followed when the dead were counted and homes restored, a group of men came upon a heap of rubble and roofing that they were clearing away. *Lyngka* in hand, one of them raised his hand to break up what seemed to be a stubborn piece of column under which was buried a heap of debris. As he was about to strike, they heard a moan. The rest, of course, is history passed on from father to me and on to my children. Had they struck her we would never have been birthed. This was a fact that never got unstuck from my memory. I know that my Diengdoh grandmother moved on to become a wife, a mother, then a struggling single mother striving to make ends meet and then moving permanently to Shillong.

She looks down at me from the picture on the wall. On her lined care-worn face I read the story of her life as of the lives of other women, like my Syiem grandmother who, one sunny afternoon, was married off to a much older, already married man who had fathered children and whose seed had been tested, dragged off even as she was playing with her cloth dolls. He left her after two daughters for his original brood so that my Syiem grandmother also became a struggling single mother. And others like Kmie Koslen the expert masseuse whose "talking stories" [2] made the present remote and the past immediate; of how she successfully handled the messy small pox; and

Kongrit who treats fire victims by talking out the flames imprisoned in the victim's body and all the other women who practice what they believe and pass on their dreams to be realised by their children and their children's children who will carry on their mother's clan names.

My own children alas, they inhabit a different world; an advanced world, an electronic world? Can they undertake a journey like mine back into a past that tells me who I am? Will their journey be fruitful? That I cannot tell. All I can hope is for them to learn to look for stories that are roosting under the eaves of our homes and discover in turn what lies in the hearts of their own mothers and their own grandmothers.

NOTES:

- One day God called upon all the people of this world to receive their script from Him. The Khasi messenger went with his counterpart, a plainsman from the neighbouring lowlands. On their way back, having received their scripts from God, they were suddenly overtaken by a storm and had to cross a swollen river. Whilst trying to swim across, the shrewd plainsman tied his script to his ponytail, thus saving it from damage. The Khasi messenger put it into his mouth and inadvertently swallowed it. This was how the Khasi script was lost.
- I have borrowed this term from Maxine Hong Kingston, *The Woman Warrior*.

# Remembering U.R.Ananthmurthy

**Ganesh N. Devy**

I first met him in 1980, in Mysore. He was a professor at the university and taught English Literature. Having read V.S. Naipaul's account about him and heard about his activities during the Emergency from a Kannada writer friend, I had always wanted to meet him. In those years, Professor C.D. Narasimhaiah's literary centre, Dhvanyaloka, used to attract scholars and writers from different parts of the country. I had gone there for a seminar when, during an afternoon session, I saw him. The Kannada Dalit writer, Devanoor Mahadeva and English novelist, R.K. Narayan were present too.

I recall Ananthamurthy making a brief comment on how he preferred Kannada writing over the Indo-English – as it was called those days – and why he admired Dalit writers, but would not himself like to write like them. He knew he was a modernist and belonged to the Navya school of Kannada literature. While he had no difficulty in bearing a close literary kinship to D.H. Lawrence and Albert Camus, he wrote out of an ethos that spoke of his Udupi childhood. He drew sustainance from K.V. Puttappa and Gopalkrishna Adiga. While attached to the politics of Lohia, he knew that he did not have to hide his identity as a Brahmin.

Here was a writer with wide horizons but whose cultural roots were intact, whose political commitment was progressive but respect for freedom of the individual uncompromised. He was, therefore, unusual for the time simultaneously traditional and modern, at once critical and compassionate to

both tradition and modernity. His brief comment that afternoon in the winter of 1980 convinced me that I was going to like and admire him for a long time.

During this first and fleeting meeting, I was a mere greenhorn, and there was no chance of him ever registering my presence at the Dhvanyaloka discussion. When I met him again this time in Thiruvananthapuram at another literary seminar – it came as a bit of a surprise when he told me that he knew I was a student of Shantinath Desai, a highly respected contemporary of his in Kannada literature. URA steered the conversation towards a comparison between Gandhi and Aurobindo, sympathetic to both but preferential to Gandhi. This too came as a surprise; my doctoral work was on Sri Aurobindo and I did not imagine that he would have known about this. Those were times when academic hierarchies were taken rather seriously and it was 'natural' for professors to be intolerant of dissenting younger colleagues.

Playing safe for the first few minutes of the conversation, I stuck to inanities. But, within minutes, I realized that this professor was serious about the conversation and was inviting me to express my convictions, my understanding, my response. Despite the differences in our views, the empathy with which he listened to what I said struck me as very unusual. Also that he thought of himself not as a scholar, not as an academic, not even a literary artist, but as a thinker, as a kind of public intellectual. This put me at ease in talking to him and our conversation became more natural.

Since then we met in numerous places and had short and long conversations. Increasingly, they became easy and enriching as we rarely talked of 'isms', books and authors. Invariably we spoke of movements, contexts, cultures and nations. Lohia, Gandhi, Marx, Ambedkar, Tagore, J. Krishnamurti, Aurobindo and Coomaraswamy cropped up as familiar stops during these

conversations. In these conversations, we would refer to what was traditional and what was modern as if we had easy access to both and could be equally critical and conformist to both, as if we were free to do this without seeming to contradict ourselves. It was this freedom 'to be at once there and not there, to contain paradoxes within oneself' that he chased through his entire life. For me, U.R. Ananthamurthy remains an extraordinary example of a never ending quest for the right to be at home in alienation, becoming an alien at home. I felt close to him because of this. He felt comfortable conversing with me because he understood I was not going to typecast him in any literary 'ism'.

During the eighties, I had launched a journal for literary translation. Since it was visualized as a bridge between languages, it was titled *Setu*. It appeared in English as well as Gujarati. I wanted to introduce Ananthamurthy to Gujarati readers, and so decided that his *Ghatashraddha* would be translated into Gujarati for publication in Setu. Ajit Kulkarni, a physicist at the Baroda Planetarium, undertook to translate it. The ethos of Ghatashraddha is that of a traditional *pathshala* of the forties. The Gujarat of the eighties had no clue of that ethos; nor was a really appropriate strain of language available to bring it alive in Gujarati. Ajit Kulkarni's only option was to make up for the 'lack' by generously using Sanskrit terms. This he did well and the translation managed to create a work fairly close to the original Ghatashraddha. Most of all, the experience of love seen at a tender age, without fully knowing what it is, came through quite well. Readers in Gujarati responded to Ananthamurthy's fiction as warmly as they would respond to L.P. Hartley's *The Go Between*, a similar story from a slightly earlier era and a different culture.

Before Ghatashraddha appeared in Gujarati, the literary class in Gujarat had read about U.R. Anathamurthy in the pages of Naipaul's *An Area of*

*Darkness*. They had also heard about him through three of his literary friends who worked in Gujarat – M.G. Krishnamoorthy and A. K. Ramanujan – both had worked briefly at the Baroda University during the early sixties and Kurtakoti, who taught at Vidyanagar till he retired in the eighties. By then, A.K. Ramanujan's outstanding translation of *Samskara* had already carried Anathamurthy's name outside Kannada to other languages in India, and other English speaking countries.

In the field of post-colonial studies described during the eighties as Commonwealth literature – there was, at the time, an active debate on the authenticity of literary production in English, which for most African and Asian writers was a second language, not their mother tongue. And with critics like Meenakshi Mukherjee and Helen Tiffin, Samskara, became the most prominent example of 'authentic' Indian literature. Of course, they would simultaneously argue that the 'twice born' Indian English writing or the African English writing had an authenticity of its own, but works like Samskara exemplified an authenticity drawing upon an ability to be natural at once in two cultures.

This debate cropped up everywhere in discussions about Indian writing in English. And throughout the seventies and eighties, it engaged writers in Indian languages who felt that their writing had not received the kind of attention like the works of Tagore or Premchand in an earlier time. Indians writing in English were being discussed by Indians, who felt that it was necessary to make a common cause with writers from other former colonies as a strong rejoinder to the colonial cultural impact. They were also being discussed in the UK as literature in England was passing through a lean phase, and good books had started coming out of the colonies. In all these discussions, works like Samskara – not written in but available in English through an

AKR translation and with OUP as its publisher – figured prominently as examples of *authentic* Indian language literature. Through these debates, Anathamurthy became a familiar name in literary circles throughout the English speaking world.

Within India, the post-Nehru era, the post-Emergency time, the rise of a new generation with high aspirations, with rapid urbanization pulling India away from the cultural memory of rural lore, the spread of English hurting the life fountains within Indian languages, the related emergence of spirituality cults, adjustment politics and memory fragmentation, collectively made Samskara increasingly meaningful. In one of our conversations, I mentioned to Ananthamurthy that his short novel almost stood like an eloquent critique of India of the day. He responded by saying that he feared it probably did. Little did the readers of Samskara outside Karnataka know that there was an Anathamurthy who wrote poems and short stories as well.*Bharatipura* and *Avasthe*, novels larger in span and more complex in its weave, too, were translated into English, but failed to receive the same attention. Ananthamurthy continued to remain outside Karnataka as the writer of Samskara, just as Srilal Shukla continued to be identified as the *Raag Darbari* writer outside the Hindi world. But, to his pan-Indian reputation, two more strands were added towards the end of the eighties – of being an excellent institution builder and as a cultural activist.

Towards the end of that decade, he was chosen to head the Mahatma Gandhi University at Kottayam in Kerala as its vice chancellor. When he concluded his term, he was asked to head the National Book Trust as its chairman; and probably, even before he completed his tenure at the NBT, Ananthamurthy was elected to preside over the Sahitya Akademi. Through-out the nineties, URA became a famil-iar presence in Delhi, gently guiding those innumerable discussions that

the Sahitya Akademi organized during his time and firmly pushing the NBT and the Sahitya Akademi to more relevant areas of literary discourse. Before his time, these institutions were a little too burdened by a general atmosphere of respect and respectability. He loosened the straitjacket and infused an air of free discussion, dissent and open inquiry. He managed to lower the average age of participants in the Akademi's seminars from strictly a 50 plus to a generally 30 and 40. Youth was given a chance, their voice was given a hospitable place.

He did this all knowingly, leading the institutions from the front, but without ever allowing a coterie to take control. What added to the glory of URA's heading these national institutions was his graceful respect for dissent and his charismatic personality, an unrivalled combine. He brought it to other institutions he headed or advised, whether it was the Film Institute in Pune or the CSDS in Delhi. URA's way of working with institutions was unique.

But, probably, the one institution that most consumed him was Ninasam at Heggodu with which he remained involved ever since Subbana, his friend from his young days, started it in the stunningly beautiful environs of Shimoga. A Ninasam Culture Course, its annual fete, without the towering presence of Ananthamurthy is difficult to imagine. He brought to Heggodu all that was his – learning, questioning, literary acumen, political philosophy, activism, generosity, grace, anxieties, everything that made URA what he was when left to himself.

During the early years of the nineties, a curious essay titled 'Why Worship in the Nude?' circulated in India. It was written in the wake of a pitched protest against the practice of women being required to worship in the nude at a folk-pilgrimage site. The protest had mobilized enlightened opinion against what looked like a 'primitive' practice, obviously detrimental to women's dignity. On the other side were defenders of the practice who

wanted to retain the autonomy of their faith and opposed any interference in the Hindu ways of worship and middle class morality. Anathamurthy wrote a detailed critique of this phenomenon and the protest. I believe it to be as thoughtful as his novel, Bharatipura. He found it necessary to defend both views and at the same time be critical of both for reasons stated with extreme precision of word and tone. If anyone felt, going by Samskara alone, that URA was like Albert Camus, reading this essay would make him look more like Sartre, a philosopher of 'the human condition'.

After he moved out of Mysore, first to Kottayam and then for intermittent stays in Delhi, he was probably hoping to move to his village, but ended up in Bangalore. He spent nearly two decades there as the conscience keeper of Karnataka. At the same time he also played at being the crusader for the city and Kannada. Thus resulted his public stand on the question of the Kannada language and the name of the city, now called Bengaluru as advocated by him. These decades also saw an unusual increase in his writing.

I met him several times in Bangalore, of which two were very special. The first time was just when he had decided to move there and I had decided to quit teaching at the Baroda University for taking up the work of revitalizing folklore in the languages of the Adivasis. This was in a semi-formal meeting of the Sahitya Akademi with him, K. Satchidanandan and Chandrashekhara Kambar present. I presented some slides on tribal communities using a portable slide projector I had borrowed from the architect Karan Grover. URA watched the slides and agreed that I bring out a series of books based on the work. However, he  was foolish, to expect it to hold Anatha-looked worried, and genuinely so, about my finances. He asked if the risk of going hungry did not bother me; if I had carefully thought about my plans.

I had, and knew the implications well. So despite his concern and worry, I took the next step. On his part, he ade a provision for a small stipend without my

asking for it. In the years that followed, I heard from numerous friends that he was over-generous in his compliments about the work I was doing. I had based my *After Amnesia* on the key terms '*marga*' and '*desi*', terms that URA too had made famil-iar in his lectures. This time, he knew that I had probably gone a bit too far into the desi.

The last time I met him in Bangalore – though we did meet in between in other cities – was after a gap of eighteen years. By now I was neck deep into the People's Linguistic Survey and had gone to Bangalore in relation to some work with it. With the help of Vivek Shanbhag – a writer I genuinely admire and who happens to be related to Anathamurthy – I made it to the Ananthamurthy house. He told me that URA was on dialysis several times a week. The day I was there was not one of those, and we could have a long conversation. His wife Esther, his daughter and Vivek were all in the room. I was aware that they did not want him to feel too exhausted by my visit. They knew that they were in vigil over a genius. In my heart I prayed for his health. He asked me about the language survey and after hearing me, he said that this was the kind of work that one must do. Sporting his peculiar smile, a smile that was only his – at once shy and wise – he said, 'Eh, Devy, you have done it.' For me this was like a long awaited endorsement of the path I had chosen in life. I left the URA house with Vivek. One knew that to expect time to stop was foolish, to expect it to hold Anathamurthy for long was greedy. I was at that moment shamelessly both.

In between these meetings in Bangalore, I met him once in Ahmedabad.He had come for the convocation of the university established by Mahatma Gandhi, the Gujarat Vidyapeeth. His host was the eminent Gandhian, and an equally eminent writer, Narayan Desai. Narayanbhai invited some of us to come for an evening meeting. Seeing the two together, it was not unnatural for one to think of a meeting, in some older time, between Tagore and Gandhi. However, that was another age. This was Gujarat in the

first decade of the 21st century. The contexts had changed; so had the meanings of words like faith and commitment, freedom and expression.

Both Narayanbhai and Ananthamurthy, in their hearts, had been deeply agonized by the rapid shift in the social discourse, worried about the rise of intolerance and let down by the silence of the literary community. They said so. A few months before Ananthamurthy passed on, he made this feeling known to the world in no uncertain terms. Then he left us, leaving behind a void. If Mahasweta Devi and Narayanbhai Desai are by now unable to do what they did earlier as our conscience keepers, and if U.R. Anathamurthy too is no longer with us, I wonder, and worry, from where and how public intellectuals will arise in India to defend diversity, dissidence and the voice of the people, from where and how writers will arise who are world class because they are a school by themselves. I do not know. To know them, to have known them, has made, at least for me, life worth living.

# श्रध्धांजलि

प्रसिद्ध आन्तरराष्ट्रिय भाषा विज्ञानी डॉ. लछमन खुबचन्दानी आज हमारे बीच नहि रहे हैं । २ नवम्बर २०१५ को पूणेमें उनका दुखद अवसान हुआ ।

विश्वभरमें अनेक विश्वविद्यालयोमें अध्ययन, अध्यापनमें उन्होनें भाषाविज्ञान, समाज शास्त्रीय विज्ञान, आदिवासी विद्या, मानव प्रत्यायन के क्षेत्रमें उनका विशिष्ट प्रदान है ।

विश्वकी अंग्रेजी भाषाएं, प्रवासी सिंधी समाज जैसे उभरते अभ्यास क्षेत्रोमें उन्होनें मूलगत चिंतनात्मक लेखन किया है । युनेस्को, लिंग्वापेक्ष, लिंग्वीस्टिक सोसायटी ऑफ इन्डीया के वे सदस्य रहे है । अनेक साहित्यिक और भाषा विज्ञानीय पुस्तकोका संपादन उन्होने किया है ।

भाषा और प्रत्यायन, भाषा नीति, बहुभाषिता, सिंधी भाषा विज्ञान आदि क्षेत्रोमें उनके बौद्धिक चिंतनशील प्रदान के लिये विद्या जगत उन्हें हमेशा याद रखेगा । भाषा संस्थाके वै संनिष्ठ साथी रहे है । विद्यार्थीओ कों पढाना और शोध के लिये मार्गदर्शित करना उनके खास रुचिके विषय थे । भाषा संस्था के ऐसे सन्मित्रको हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते है ।